कागज़ की नाव

शैलेश मटियानी

कागज की नाव

(शैलेश मटियानी के ताजा लेखो का सग्रह)

लेखकाधीन

प्रकाशक
अनुभूति प्रकाशन
५३, करनपुर, प्रयाग स्टेशन
इलाहाबाद-२११ ००२

सस्करण १९९१

मूल्य ४५ ०० रुपये

आवरण
शिवगोविन्द पाण्डेय

मुद्रक
पियरलेस प्रिन्टस
१, बाई का बाग
इलाहाबाद-२११००३

प्रकाशकीय

प्रस्तुत पुस्तक मटियानी जी के ताज़ा लेखों का ताज़ा संग्रह है।

मटियानी जी की भाषा उनका तेवर उनके तर्क दमदार ही नही होते उनमें ऐसी प्रहार क्षमता होती है कि लक्ष्य तिलमिला उठता है। वे लीक से हटकर चलते हैं बोलते हैं, लिखते हैं।

इन लेखों में मटियानी जी की संवेदना आदमी के साथ ही भारतीय संस्कृति से जुड़कर चलती है। वे किसी को सवाल से ऊपर नहीं मानते। जब राम और रहीम सवाल से ऊपर नहीं हैं तो संविधान और उसके निर्माता संचालक सभी पर वे अपने को और अपने ब्याज से हर बुद्धिजीवी को उँगली उठाने का अधिकारी मानते हैं।

साम्प्रदायिकता, स्त्री हत्या (सती प्रथा) राष्ट्रीयता, राष्ट्रगीत राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री, विधायक ये ऐसे मसले है जिन पर अक्सर ही अखबारों में तू-तू मैं मैं होती है। पर सब टाय टाँय फिस्स होकर रह जाता है। आवश्यकता है उस पर गम्भीरतापूर्वक विचारने की। पर स्वार्थपूर्ति के बाद सब कुछ ठहर जाता है। जो किसी भी लोकतन्त्र के लिए घातक है।

मटियानी जी के इन विचारों को पाठकों तक सम्प्रेषित करके हम अपना प्रकाशकीय धर्म निभा रहे है और चाहते हैं उस पर बहस को आगे बढाया जाए। जो सुविचारित सत्य निकले उसे स्वीकारा जाय और जो जाँचने परखने पर अप्रासंगिक हो उसे छोड़ दिया जाए।

अनुक्रम

□□

नदकिशोर मित्तल
को सादर

प्राक्कथन

एक तरह से देखें, तो विचार और अभिव्यक्ति की अद्भुत स्वतत्रता है। दूसरी तरह से देखें, तो सोच-विचार और सवेदन के सवाल ही इतने फालतू हो चुके दिखाई पड़ेंगे कि अभिव्यक्ति की स्वतत्रता हान, या नही होने की बहस ही हाशिये पर की वस्तु लगे। लिखना, दर-असल, लोगो को आवाज देना है। जिन तक—या जिस रूप मे—बोल कर बात पहुँचाना मुश्किल, लिखकर साझा खोजना है। लिखना पढने वालो स सम्बन्ध बनाना है। लेकिन हालात अगर यहा तक पहुँच जायें कि सम्बन्ध बना सकने की गुजाइश ही कही दूर-दूर तक दिखाई नही दे, तब कोई क्या करे? -

जबकि आज की हकीकत यही है। लेखक कभी भी पूरी निष्ठा और सरोकार के साथ लिख ही नही सकता, अगर कि उसे इतना विश्वास नही कि लिखा व्यर्थ नही जाना है। लिखने का कोई अर्थ नही, अगर उसे पढा नही जाना और पढे जाने का कोई मतलब नहीं, जब तक कि जिस उद्देश्य से लिखा, उसी उद्देश्य से पढ़ा नही जाय। लिखने और पढने वाले के बीच का साझा ही लिखे गये को सार्थक करना ह

और आज यह खासा ही असम्भव मालूम पड़ता है। लिखने और पढ़ने वालों के बीच एक अभेद्य अदृश्य दीवार-सी खड़ी है और पारदर्शिता कहीं नहीं। न लिखने वाला यह देख पाने की स्थिति में है कि उसके लिखे को पढ़ने वाले ने पढ़ा, उसकी संवेदना या सोच में कोई प्रतिक्रिया कहीं झिलमिलाई, या नहीं—और न पढ़ने वाले को यह अनुभव कर पाने का कोई अवसर कि लेखक तक उसकी झलक पहुँच रही है।

संकट सबको नहीं। सांसत सिर्फ उन्हें है, जो आमने-सामने होना चाहते हैं। जिस उद्देश्य से लिखा, उसी उद्देश्य से पढ़ने वाला की तलाश ही किसी लेखक की सबसे गहरी तलाश हुआ करती है। जिनकी लिखी किताबें लाखों की संख्या में बिक रही हों, वे इस इतमीनान में बिलकुल रह सकते हैं कि उनका लिखा व्यर्थ नहीं जा रहा, लेकिन जिन्हें पता हो कि सिवा सरकारी और छिटपुट वाचनालयों खरीद के किताब की अब कहीं कोई रास्ता नहीं कि पढ़ने वाला तक पहुँच सके, उनका संकट सामान्य नहीं। आज यह संकट हिन्दी के उन तमाम लेखकों पर छाया है, जो रचनात्मक या वैचारिक लेखन की दुनिया के बाशिंदे हैं। जिन्हें इतना भी विश्वास बँधना कठिन है कि करोड़ो-करोड़ कहे जा रहे हिन्दी पाठक-वर्ग के बीच उनकी किसी किताब की साल-भर में कम-से-कम सौ-पचास प्रतियाँ तो निकल ही जाएगी। प्रकाशक अगर लम्बी बाँहों वाला नहीं, तो साल-भर में दस-बीस प्रतियाँ का भी ठिकाना मुश्किल है।

अस्सी करोड़ की आबादी वाले महादेश में अगर किसी लेखक का साल-भर में चालीस-पचास किताबों के भी पाठकों तक पहुँचने का विश्वास बँधना कठिन हो, तो कोरे कागज के सामने उपस्थित होने में शब्द और भाषा—या कि रचनाकर्म—की कितनी प्रासंगिकता कोई लेखक अनुभव कर सकता है, इसका अनुमान, शायद, कठिन नहीं होगा।

आज की सचाई यही है।

इस देश की व्यवस्था ने, जहाँ तक इससे बन पड़ा है, लेखक और समाज के बीच के सेतु या तो ध्वस्त कर दिये हैं और या उनकी ऐसी

नाकाबन्दी कर दी है कि आवाज ही कठिन है। लेखक अपने लिखित के द्वारा समाज तक पहुँचना, और उसे यह बताना, चाहता है कि लिखत सही है, या नही। लोगो की भावनाओ, उनके विचारो और जीवन-सघर्षो की जो तस्वीर उसने प्रस्तुत की, वह सही है, या कि गलत ? व्यवस्था की अमानवीयता और शोषणवृत्ति की जो पहचान वह दे रहा है, उसमे कुछ सार है कि नही। और कि अगर वह समाज की जडता के सवाल उठा रहा है, तो इनमे कुछ दम है कि नही ?

लिखना, दरअसल, बताने के सिवा कुछ नही। मनुष्य के सघर्ष और सौन्दर्य के बारे मे अधिकतम प्रभावी भाषा मे अपना अनुभव बताने की ललक ही किसी व्यक्ति को लेखक बनाती है। समाज मे अपनी साख या जगह ढूढता फिरता है लेखक, तो इसीलिए कि अपने बताये की प्रासगिकता को समझ सके। जब तक साहित्य के समाज तक पहुँचने का सिलसिला बरकरार हो, तब तक लेखक के पास यह मान लेने का आधार बिलकुल है कि उसका लिखा व्यर्थ नही जा रहा। किताब का पढा जाना ही उसकी पहली सीढी है। यही किताब की सामाजिक स्वीकृति है। यह प्रमाण है कि लेखक के समाज और समाज के लेखक के साथ के रिश्ते ठीक-ठाक चल रहे हैं। यानी दोनो ओर कुशल है और दोनो छोर आपस मे जुडे हैं। लेकिन जब किताब को ही रास्ता बन्द दिखाई दे, तो इतना समझ लेने मे कोई देर नही होनी चाहिये कि मामला गडबड है !

किताब को रास्ता नही मिलने का मतलब होता है, लेखक को समाज और समाज को लेखक तक पहुँचने का रास्ता नही मिलना। अगर यहा आकर हम इस नतीजे पर पहुँचते हो कि इसमे कोई हर्ज नही, क्योकि न समाज का काम लेखक के बिना अटकना है और न ही लेखक का काम समाज के बिना, तब कोई समस्या नही होगी। इस नतीजे पर पहुँचने का मतलब ही होगा कि लेखक और समाज, दोनो की दिशाएँ भिन्न हैं। न लेखक को समाज की जरूरत है और न ही समाज को लेखक की। सामान्य बुद्धि से भी देखें, तो चिन्ता की स्थिति सिर्फ तब

बनती है, जबकि काम नही चल रहा हो। जिस समाज का काम लेखक के बिना चल जाय, उसे लेखक जरूरी क्यो हो ? ऐसे ही, जब समाज के बिना ही अपने सारे काम-काज ठीक-ठाक चल रहे हो, तब लेखक को क्या गरज हो कि समाज के साथ के अपने रिश्ते को जांचता फिरे ?—किन्तु यही आकर यह सवाल जन्म लेता है कि—क्या वास्तव मे हकीकत यही है ?

जिन्ह जगतगति नही व्यापती, या कि जो जगतगति के सवाला मे जाने मे ही असमर्थ हो, उन्ह छोड दीजिये। हर समाज मे ऐसे कुछ सिरफिरे होते जरूर आये हैं, जो मूर्ख, खब्ती और अप्रासगिक मान लिय जाने के जोखिमो के बावजूद सवाल उठाते हैं। जो जानते हैं कि कोई भी व्यक्ति, कभी भी, बिना किसी सामाजिक आधार के ही सवाल उठा ही नही सकता, क्योकि सवाल स्वय मे ही एक सामाजिक उत्पत्ति है। जहा-जहाँ सवाल उठते हैं, जब-जब सवाल उठते हैं और जिन जिन कारणा से सवाल उठते है, इनके पीछे समाज के उद्वेलन ही मौजूद हुआ करते हैं। इसलिये किसी भी विचारवान व्यक्ति के लिये यह नतीजा सतोप की वस्तु नही ही होगा कि लेखक को समाज, या कि समाज को लेखक, की कोई जरूरत नही रही। बल्कि वह तुरत जायेगा इस सवाल म कि ऐसा आभासित होने क्यो लगा ? जो एक-दूसरे के सबसे अभिन अग है, जिनकी स्वस्ति के सवाल एक-दूसरे पर टिके हैं और कि जिनके बीच आत्मा और वाणी के बीच का-सा अनन्य सम्बन्ध है, इनके बीच का यह अलगाव किसी सामान्य सकट की निशानी नही होगा। बल्कि ऐसी कोई भी स्थिति इस बात का सबूत होगी कि जरूर इन दोनो के बीच कोई ऐसी 'तीसरी सत्ता' उपस्थित हो गई है, जिसने दोना को इस मुकाम पर ला दिया है, जहा कि इनकी स्वस्ति या अस्वस्ति के सवाल अब खुद इनके (भी) देखत-सुनते, सोचते विचारते और जाचते चलने के सवाल नही रह गये हैं।

यह 'तीसरी सत्ता' ही राज्य है।

समाज के मुख्यत दो अग हैं। कर्म और चिन्तन, एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। जहा एक भी ओझल, वहाँ सकट अवश्यम्भावी है। एक लोहार और लेखक में, समाज के लिये कौन जरूरी और कौन फालतू हो सकता है ? जाहिर है कि दोनो समाज के जरूरी अग हैं और इनमे जो स्वय के कर्म और सोच से जितना प्रतिश्रुत, ठीक उतनी ही हद तक उसकी प्रासगिकता भी है। एक लोहार अगर सिर्फ स्वय के गाव के हित को ही समर्पित हो, तो वह किसी भी मामले म समाज से प्रतिश्रुत लेखक से कम जिम्मेदार नही। कम की प्रकृति के भिन्न होने से दोनो के क्षेत्र भिन्न हो जाते हैं, लेकिन कर्म और चिंतन मे से किसी एक की जरूरत खत्म नही हो जाती। लोहार और लेखक मे कर्म और चिंतन का सिर्फ अनुपात बदल जाता है। इसलिये इतना अभिज्ञान जरूरी है कि मूल सत्ता समाज की है। अपने मे अलग से किसी की कोई सत्ता नहीं, क्योंकि अस्तित्व स्वय मे ही एक सामाजिक तथ्य है। तब देखना जरूरी होगा कि यह जो समाज के श्रमिक और बौद्धिक, दो अगो के बीच स एक तीसरी सत्ता 'राज्य' के रूप म सामने आती है, इसका स्वरूप इतना सर्वग्रासी न हो जाय कि बाकी किसी की कोई स्वाधीनता बचे ही नहीं।

'एक-दूसरे की तरफ नहीं, बल्कि सिर्फ राज्य (सरकार !) की ओर देखो !' का वातावरण निर्मित होने लगे, तो यह सबूत होगा इस बात का कि राज्यव्यवस्था का चरित्र अधिनायकवाद के मुकाम पर जा पहुँचा है। साम्राज्यवाद या तानाशाही, ये दोनो भी अधिनायकवाद के ही सिक्के हैं। समाज को इस मुकाम पर ले आना कि उसे लेखक की जरूरत ही अनुभव नही हो और लेखक को यहा कि 'तुम्हारा सारा बदोबस्त हम किये देते हैं'—ये दोनो ही लक्षण अधिनायकवाद के होंगे। अधिनायकवाद या कहें कि एकाधिपत्यवाद का यह चरित्र होता है कि बाकी सबकी सत्ता को लीलते जाओ ! इस दृष्टि से देखने पर इतना बिलकुल कहा जा सकता है कि—सिर्फ साम्राज्यवाद और अधिनायकवाद के दौर

मे ही यह सम्भव है कि समाज के संवेदनक्षेत्रो पर भी राज्य का अधिग्रहण कायम होने लगे।

लेखक और समाज के बीच का रिश्ता क्या है, इस पहचानने के लिए जानना जरूरी होगा कि उसका साधन क्या है। भाषा ही तो ? और भाषा का साध्य क्या है ? भाषा का सर्वोत्तम रूप कहाँ जाकर प्रकट होता है ? विज्ञान, इतिहास, भूगोल-खगोल, अर्थशास्त्र ही नही, बल्कि दर्शन अथवा विचारधाराओ तक म भाषा साध्य नही, साधन है। सिर्फ साहित्य म ही भाषा साधन नही, बल्कि साध्य भी हुआ करती ह। यह कारण है कि भाषा कि सर्वोच्च छटा हम सिर्फ साहित्य म ही मिलती है। महाकाव्यो की भाषा और अन्तर्वस्तु को पृथक करना असम्भव है। भाषा जहाँ मनुष्य से अभिन्न हो जाती हैं, वह क्षेत्र भौतिक नही, आत्मिक ज्ञान का है और आत्मिक ज्ञान के सारे स्रोत सवेदना से जुडे हैं। भौतिक-ज्ञान के बुद्धि से। लेखक का क्षेत्र सवेदन है। उसके सारे ज्ञान, ध्यान एक सवेदना पर टिके हैं। समाज के सवेदनो को भाषा मे उतारने का काम उसका है और यही उसका समाज से—और समाज का उससे—रिश्ता है।

आज चतुर्दिक के हाहाकार के बीच समाज के सवेदनो की पारदर्शी झिलमिल जो कही दिखाई नही पडती—कही से कोई ऐसी आवाज आती सुनाई नही पडती, जिसमे कि पूरे समाज की आत्मा बोलती आभासित हो सके—इसका कारण क्या है ?

अकारण कुछ नही होता। पूरे समाज का गला रुँधा जान पडता है, तो इसलिये कि राज्य का पजा उसके सवेदनक्षेत्रो तक भी जा पहुँचा है। अपने सर्वग्रासी सचार-माध्यमो के द्वारा राज्य ने सस्कृति तक को अपने कब्जे मे कर लिया है, क्योकि सस्कृति सवेदना जगाती ह। हर बर्बर व्यवस्था सबसे पहले आदमी की सवेदना को मारना चाहती है। उसे इतना भय सदव घेरे रहता है कि जब तक आदमी संवेदना म बच रहगा, प्रतिरोध करेगा जरूर। खुलकर नही, तो छिपकर। बोलकर

नहीं, तो समय आने पर बोलने का सकल्प करते हुए! आज नही, तो कल! कल नहीं, तो परसो! परसो भी नही, तो वरसो के बाद ही सही, लेकिन संवेदना बच रहेगी, तो आदमी कभी-न-कभी बोलेगा जरूर!

आपात्स्थिति क्या थी? राष्ट्रीय पैमाने पर सवेदनाहनन का करिश्मा ही तो! और अवसर पाते ही लोगो ने जो मुँहतोड जवाब दिया, व्यवस्था भूली नहीं है। वह भली-भांति जानती है कि यह अन्तिम सघर्ष नहीं, इसलिये सवेदनाहनन का सिलसिला सतत जारी है। जो भी वस्तु आदमी मे सवेदना जगा सकती हो, उसे या तो खरीद लेना है—और या तोड देना—यह पक्का इरादा आज भी व्यवस्था मे ज्यो-का-त्यो मौजूद है। लेखक और समाज के बीच के रिश्ते को ध्वस्त कर देने की मुहिम इसी योजना का एक अग है, लेकिन यह काम वह डके की चोट पर नही, बल्कि सात पर्दों के पीछे से करने मे विश्वास रखती है।

आज देश के अधिकाश मूर्द्धन्य लेखका की शक्ल क्रीत अथवा बलात बौद्धिको की निकल आई है, तो इसलिये कि लेखको ने समाज के सवेदन-क्षेत्र पर भी कब्जा जमाते सर्वग्रासी पजो की तरफ इगित करने का इरादा छोड दिया है। उन्होन मान लिया है कि देश मे कहाँ क्या हो चुका, हो रहा या होने वाला है, यह देखने का काम उन राजनैतिक नेताओ का है, जिन्हे राज्य चलाना है। शिक्षा, भाषा, कानून और प्रशासन—ये सब राज्य के अग मान लिये गये हैं और ज्यादातर लेखक इन पर कुछ नही बोलना चाहते। अनुमति के दायरे से आगे बढते लेखको को डर लगता है। जबकि लेखक का वास्ता उस हर वस्तु से होना जरूरी है, जो सवेदना से जुडी हो।

आज की वास्तविकता यही है कि देश के मूर्द्धन्य लेखको और व्यवस्था के बीच एक दीर्घकालिक अनुबध हो चुका-सा दिखाई पडता है। शिक्षा, न्याय और प्रशासन ही नही, बल्कि साहित्य और सस्कृति के क्षेत्र मे भी राज्य के एकाधिपत्य को एक आम स्वीकृति मिल चुकी है। अन्य भाषाओ का ज्ञान नही, लेकिन जहाँ तक हिन्दी का सवाल

है, किसी भी मूर्द्धन्य लेखक को शिक्षा, न्याय, कानून, संविधान, भाषा या प्रशासन के ज्वलंत सवालों पर इस तरह बोलते नहीं सुना जा सकता कि हमें लगे, हमारी वेदना को वाणी देने से वचनबद्ध लोग मौजूद हैं।

ज्ञान से बड़ी वस्तु है, ध्यान! जिसे ध्यान नहीं रहा, उसका ज्ञान किसी काम का नहीं। ध्यान रखने का विवेक ही ज्ञान की पहचान है। जब लेखक को इतना भी ध्यान नहीं रहे कि कैसे उसे समाज की मुख्य धारा से काटकर, हाशिये पर फेंक दिया जा चुका है, तो यह सबूत होगा कि उसका ज्ञान दीमक की बांबी बन चुका है। लेखक की एकमात्र पह-चान इसमें है कि उसमें देश, काल और समाज के सवाल झिलमिलाते दिखाई पड़ें, क्योंकि भाषा की पहली शर्त पारदर्शिता होने से, झूठ और सच के बीच की धुंध को दूर करने में ही उसकी कृतार्थता है।

लेखक का काम झूठ और सच के बीच धुंध को कायम रखने में हाथ बंटाना नहीं है। आज किसी भी सामाजिक संकट पर किसी मूर्द्धन्य लेखक का कोई ऐसा लेख कहीं मुश्किल से ही देखने को मिलेगा, जिससे लगे कि ध्यान रखा गया है! ध्यान रखा गया है कि समाज का कोई भी ऐसा अंग नहीं, जिससे कि लेखक का कोई वास्ता नहीं बनता हो। जो-कुछ भाषा, वह सब-कुछ लिखने वाले की हद में है। कोई यह तर्क नहीं दे सकता कि यहां लेखक का कोई मतलब नहीं, क्योंकि किसने किस वस्तु का क्या मतलब बताया है—और गलत बताया है कि सही—यह समाज को दस्तावेजी तौर पर लिखकर बताने का काम लेखक के निम्म है। लिखने का इरादा ही अपने आपमें लिखने का हक भी है। देखने की बात है सिर्फ यह कि अपने इस हक का किसे कितना ध्यान रहता है।

क्यों नहीं राष्ट्रभाषा का सवाल आज तक हल नहीं हो पाया? क्या संविधान के अत्यंत ही घातक अन्तर्विरोधों पर कोई बहस आज तक शुरू ही नहीं हो पाई? क्यों पंजाब की धू-धू निरंतर बढ़ती ही जाती है? क्या देश की नयी पीढ़ियों की आंखों में अंग्रेजों की औलाद बन सकने के सपने दिन-पर दिन गहरे ही होते जा रहे हैं? क्यों न्याय और

कानून खरीद-फरोख्त की सामग्री हो गये हैं ? क्या प्रशासन सामान्य जनों के प्रति क्रूरता की हद तक लापरवाह होता गया है ? साम्प्रदायिकता का जहर और गहरे, और गहरे क्यो घुलता जाता है ? इस तरह के तमाम सवालो का एक ही जवाब है—इसलिये कि जिन पर झूठ को झूठ और सच को सच बताने की जिम्मेदारी थी, वही अपनी कीमत लगवाकर, एक तरफ हो गये।

अगर कहें कि देश का बौद्धिक वर्ग ही समाज के प्रति सबसे ज्यादा विश्वासघाती वर्ग है, तो क्या यह झूठ होगा ? विडम्बना तो है यह कि जो आर्थिक तौर पर जितना सुरक्षित, वही इन सवालो पर सबसे अधिक गुमसुम है। उसे साफ दिखाई दे रहा है कि हम आखिर-आखिर किस सर्वग्रासी अँधेरे के हवाले होने जा रहे हैं, लेकिन वह भी देश के पूंजी-निवेशियों और राजनैतिक नेताओ की तरह इस पूरे इतमीनान मे जी रहा है कि—जगल की आग जगल तक ही रहेगी !

समाज जगल नही है। समाज को आग के हवाले रखना ठीक नही। सबसे गहरी आग आदमी के भीतर के अलाव मे जलती आई है। बडे-बडे सम्राटो और तानाशाहो के हवामहल इसी आग मे राख हुए हैं। लेखक को आदिम-अग्नि का ज्ञान सबसे जरूरी है। उसे यह ध्यान जरूरी है कि उसकी सामाजिक साख क्यो नष्ट हो गई। आखिर क्या बात है कि लोगो ने उसे अपने ध्यान से ही उतार दिया और मान लिया है कि हमारे सारे सरोकार सिर्फ राजनेताओं से जुडे हैं। लेखक का, समाज की मुख्यधारा से दूर, साहित्य और सस्कृति के शोभा प्रतीको की हैसियत का जीवन ही उसका सबसे दुखद मरण है। जिसके जीवित होने का अहसास समाज को नही, वह लेखक जिंदा मुर्दा से बेहतर कुछ नही। जो लेखक समाज को फालतू हो चुका, गाँव के कुत्ते से गया-बीता है।

बगदाद के एक फकीर का वृत्तात कही पढा था।

बगदाद के किसी खलीफा ने ऐलान करवा दिया कि वह खुद ही

खुदा भी है, और जो कोई इस बात पर-ईमान नहा लायेगा, उसकी गदन फाँसी के फदे के हवाले होगी। धीरे-धीरे ऐसा सन्नाटा छाया कि फाँसी का फदा खाली-का-खाली ही हवा मे झूलता रह गया। बहुत खोजने पर पता चला कि कही दूर के बियाबान मे एक फकीर है, जो खलीफा हुजूर के खुदा होने पर ईमान लाने से इकार करता है। फकीर को, मुश्कें बाँध, खलीफा के दरबार मे हाजिर किया गया, तो भी फकीर की गर्दन आदाब मे झुकी नही। आखिर खलीफा खुद गद्दी से उतर कर नीचे तक आया। उसने अपने जजीर से बधे खौफनाक और बदशक्ल कुत्ते की तरफ इशारा करते हुए पूछा—'अरे ओ, ऊपर वाले खुदा की रट लगाने वाले, फकीर! तेरी जिदगी सिर्फ एक सवाल पर टिकी है। तुझे सिफ उतना जवाब देना है कि यह मेरा कुत्ता और तुम—दोनो मे बेहतर कौन है? कौन है बेहतर—तू कि मेरा यह वफादार कुत्ता ?'

फकीर का जवाब था—'जितना यह कुत्ता तुम्हारा, इससे कही ज्यादा वफादार अगर मैं उस पाक परवरदिगार से हूँ, जो कि जस मेरा, वस ही तुम्हारा भी निगहबान है, तो कहने का हक है मुझे कि इस कुत्ते स बेहतर मैं हूँ। और अगर ऐसा नही, तो जाहिर है कि यह कुत्ता मुझस बेहतर है।'

कहना जरूरी नही होना चाहिए कि लेखक को समाज ही खुदा है। क्योकि सिफ तभी तक उसका वजूद है, जब तक कि वह समाज से जुडा और वहीं से खुराक पा रहा है। समाज से नाभिनाल-सम्बन्ध के खत्म होत ही उसका वजूद भी खत्म है। फिर तो वह जितने दिन जिदा है, पहल की जमा पूजी से है। लेखक के तौर पर बच रहता है सिर्फ वह, जिसका नाल समाज से कटी नही। जो समाज के गर्भगृह से हटा नही। इसी का दूसरा छोर है यह कि जिस समाज मे लेखकों की बोलती बद हो, वह बिना पक्षियों का जगल ह।

इस सग्रह की टिप्पणियाँ समाज के विभिन्न सवाला पर मुँह खोलन की कोशिश भर हैं। इनकी व्यर्थता स्वत उजागर है। लेकिन, फिर भी,

इतना कहने की इजाजत चाहिये जरूर कि सवाल से ऊपर कुछ नहीं। जो खुद को सवाल से ऊपर लगाये, वह तानाशाह है। और जो सवाल से बाहर हो गया, वह बेवकूफ! आदमी को तो न तख्त सवाल से ऊपर है और न तवा सवाल से बाहर! तवे से लेकर तख्त तक निगाह रखने वाला ही दावा कर सकता है कि जागता है!

इन टिप्पणियों में से अधिकांश, 'कागज की नाव' शीर्षक स्तम्भ के अन्तर्गत, अक्टूबर ८७ से लेकर अप्रैल ८८ के बीच की अवधि में, 'अमृत प्रभात' और 'अमर उजाला' दैनिकों में छपीं। इनमें कुछ ऐसे प्रसंगों पर बोलने की कोशिश है, जिन पर प्रायः नहीं लिखा गया। संविधान और कानून पर खासतौर से! लिखने वाले का काम ध्यान दिलाना है और लिखे की कोई सार्थकता ही तब है, जबकि ध्यान जाय!

काल भी बोलता है। आदमी के रहते सब बोलते हैं। सवाल सिर्फ सुनने का है। आज हम जिन स्थितियों से गुजर रहे हैं, यह वक्त है कि साहित्य, कला, शिक्षा, राजनीति और न्याय—समाज के सारे मुख्य अंगों के प्रवक्ताओं के बीच संवाद जरूरी हैं। संवाद के लिए जरूरी होगी गहरी चिंता। चिंता गहरी हो, तो ध्यान भी स्वतः ही एकाग्र हो जाता है। कहना-सुनना, ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। कहने वाले से कम महत्त्व सुनने वाले का नहीं। सच को सुनने में समर्थ लोग ही सच के कहे जाने का वातावरण निर्मित करते हैं।

ये टिप्पणियाँ उग्र हो सकती हैं। त्रुटियाँ भी जरूर होंगी, लेकिन इनमें जो-कुछ कहा गया है, अवज्ञा या अवमान नहीं, बल्कि वेदना और चिंता में। इनमें एक बहस उठाने की कोशिश है, साहित्य, शिक्षा और कला या चिंतन ही नहीं, बल्कि राजनीति भी समाज का उतना ही मुख्य अंग है। कहें कि जहाँ तक तात्कालिक प्रभावों का सवाल है, राजनीति का पलड़ा सबसे भारी है। कानून का अध्यापन राजनीति के अंधों की देन हुआ करता है, इसलिए जो सही दृष्टि और दिशा की राजनीति करने का

दावा रखते हों, उन्हें न्याय और कानून पर कैसी भी गहरी बहस स कोई एतराज नही होना चाहिए, क्योंकि बहस से ही धुध दूर होती है।

आज बहस की सबसे खास जगह को भी बदूको ने घेरना शुरू कर दिया है। जी हाँ, हमारा इगित ससद की ओर ही है। और इतना कहने मे कोई हर्ज नही होगा कि हर वस्तु अपनी जगह पर ही शोभा देती है। बदूकें बहस से बडी होने लगें, तो उन्हे छोटा करना जरूरी है। बहस आज पूरे ससार की सबसे बडी जरूरत है और बहस की भी पहली शर्त है, ध्यान !

ये टिप्पणिया ध्यान दिलाने की अदना कोशिश-मात्र हैं।

• •

कागज की नाव

मुहावरा तो यही है कि 'कागज की नाव कितनी दूर तक जायगी' लेकिन जरा ध्यान से दूसरा पहलू देखिये, तो पता चलता है कि इससे ज्यादा दूर तक कोई नही जाता। क्योकि चलन मे आते ही कागज पर की लिखत पढत जीवन्त हो उठती है और कागज 'चालान बन जाता है। काल की धारा मे कागज की नाव से ज्यादा कोई नहीं टिकता। आदमी तक हमेशा बडे बडे मालवाही जहाजो से ज्यादा सामग्री पहुचाती आई है, कागज की नाव! मानसिक, बौद्धिक और वैचारिक राशन-पानी-हरबा हथियार पहुचाने का सबसे बडा माध्यम है—कागज! समस्त मानवीय ज्ञान-विज्ञानो का परिवहनकार्य यह नाव ही सभाले है। दूरदर्शन और आकाशवाणी मे भी यह बात वहीं। कागज पर की लिखत पढ़त के बिना, इन दोनो ठिकानों पर भी सिवा सन्नाटे के और कुछ नही दिखाई सुनाई पडता।

हम अखबार पढते हैं, जरा इसे ही ध्यान से देख लें। सिर्फ चौबीस घण्टो के सफर मे यह देश-विदेश, ज्ञान विज्ञान, इतिहास-भूगोल, विचार-कला, साहित्य संस्कृति और राजनीति की कितनी सामग्री हमारे दरवाजे तक छोड जाता है? आप कह सकते हैं कि यह

कागज की नाव भी कहां ज्यादा देर तक चलती है। इसमे इधर की पढ़ाई खत्म हुई कि अखबार रद्दीवाले खाने मे जमा हो गया। हम कहेंगे, असर कहा जायेगा? कितने लोग अखबार तो पढ़ते हैं, लेकिन इस बात की उन्हें हवा भी नही लगती कि इस पर छपी सामग्री उनको क्या बनाती और कहां पहुचाती चली जा रही है। आज के सारे राजनीतिक ही नही, बल्कि सामाजिक सांस्कृतिक आर्थिक सोच-विचार को भी सबसे ज्यादा प्रभावित करने वाली करामात यही है—यह कागज की नाव।

अपनी दिन भर की बातचीत और बहस मुबाहिसा का लखा-जोखा हम तैयार करें कभी, तब ही पता चल सकता है कि हमारी सारी मानसिक और वैचारिक बनावट मे इसकी हिस्सेदारी कितनी है। हजार रूप हैं इसके। कही यह कलाकृति की शक्ल मे है तो कहीं पोथी पत्रे के। मसि कागद नहीं छूने और कलम हाथ मे नहीं लेने का दावा करने वाले कबीर को भी आखिर मजबूर होकर कहना पड़ा —ढाई आखर प्रेम का, पढ़े सो पंडित होय।' यानी सिर्फ करने से ही कुछ न होगा, चाहे जिन्दगी भर कैसा भी महान् प्रेम करते फिरो। पंडित, यानी प्रेम का सचमुच का ज्ञानी, होने के लिए चाहे ढाई आखर ही सही, पढ़ना जरूरी होगा प्रेम को। और पढ़ेंगे कहां आप, कागद पर ही तो?

कागा रे, मोरा सदेसवा पिया से कहियो जाय।' माना कि कागा ने पहुँचा भी दिया सदेश, तो यह सब पता चलेगा कैसे? और कब? सिवा इसके कि कागज के किसी कोने मे सहेजा हुआ हम तक भी पहुच जाय? कहने का मतलब कि 'कागज की नैया कहां तक जायेगी' मुहावरे मे भी नसीहत है यही कि इस नैया का बहुत ध्यान से देखने की जरूरत है। तभी हम जान भी सकेंगे कि यह सचमुच कितनी दूर चलने वाली है, और कि इसमें की सामग्री की हकीकत क्या है। और हमारे हक मे है कितनी खतरनाक! क्या क्या है इसमें, जो

हमारे ज्ञान की शाखाओं को समृद्ध करेगा। और कितना ऐसा, जो हमारे सोच विचार और संस्कारों की जड़ें खोखली कर डालेगा।

आप अखबार पढ़ते हैं? ध्यान से देखते हैं कि रोज सवेरे दरवाजे मे आ लगने वाली इस कागज की नाव मे क्या क्या सामग्री पहुचाई जा रही है आप तक? दूध, डबलरोटी, सब्जी और फल, अपनी दैनंदिन उपयोग की तमाम वस्तुओं की जितना उलट पुलट, नाप जोख और जाच परख कर लेते हैं आप, क्या इतना ही ध्यान इस कागज की नाव पर के सामान पर भी देते हैं, जो कि आपकी पूरी मानसिक वैचारिक दुनिया को प्रभावित करता है?

एक बात आइने की तरह साफ रहनी चाहिये। बिना उद्देश्य के कोई कुछ नहीं करता। निरुद्देश्य न कोई कुछ लिखता है, न छापता है, न पढ़ता है। क्या हम कभी ध्यान से देखते हैं कि किस उद्देश्य से पढ़ते हैं हम कुछ भी? फिर चाहे वह अखबार हो कि किताब? सनसनीखेज काण्ड हो कि साहित्य? थोड़ा इतिहास के कागद पलट कर देखें हम लोग, तो इतना साफ पहचान सकेंगे कि पिछली कितनी शताब्दियों से हम इस चेतना से शून्य ही चल रहे हैं कि अपने रहन सहन, खान पान, ज्ञान ध्यान के उद्देश्यों के प्रति उदासीन जातियां ही आखिर आखिर गुलाम बनती हैं। जिन्हे अपना उद्देश्य जाचना न आये, वो यह भी नही समझ सकते कि दूसरों का इरादा क्या है।

वस्तुओं को पूरी चेतना से उलटने पलटने, छानने फटकने और जाँचने परखने की प्रक्रिया हममे लगभग नदारद है। न शिक्षा, न भाषा, न राजनीति कला-संस्कृति, न अखबार या किताब। कुछ भी हमारी जाँच परख का विषय नही कि असर कहाँ तक जायेगा। हम लालसाओं के धनी रह गये हैं, जिज्ञासा के नही। जिज्ञासा रखने मे कुछ कष्ट होता है। इससे बुद्धि, विचार और दृष्टि के सवाल जुड़ते हैं। गुलामों को बोझ ढोने में उतना कष्ट नहीं होता, जितना

जिज्ञासा रखने में, क्योंकि जिज्ञासा सिर्फ स्वाधीन जातियों की वस्तु है। जिज्ञासा आदमी को सघर्ष मे ले जाती है। गुलाम सघर्ष नही चाहते। आखिर सघर्ष से बचने को ही तो आदमी गुलामी कबूल करता है।

इसमे क्या शक कि निरुद्देश्य कोई गुलामी भी नहीं करता। सौ वर्ष अग्रेजो की गुलामी हम इसी उद्देश्य मे तो करते रहे कि सघर्ष मोल न लेना पडे। और जब सघर्ष की चेतना हममे जागी, तो सूर्यास्त नही देखने के दावेदार ब्रिटिश साम्राज्यवादियो का बोरा बिस्तर बँधने मे तीन चालीस साल भी नहीं लगे। लेकिन आसमान से चले आखिर खजूर पर अटक रह गये हैं हम, तो इसलिए कि विदेशी की तुलना मे स्वदेशी लुटेरो को महान राष्ट्रीय तत्व मान लेने का सिद्धात गले मढ गया। इस बात पर कतई कोई ध्यान नही दिया कि आजादी के बाद की हुकूमत को जांच-परख और उलट फेर से ऊपर मान लेने के खतरे क्या होगे। अब परिणाम सामने है। हमारी शक्ल फिर वही सदियो के गुलामो की निकल आयी है। वही सदियो पुराना कोटर-जीवी चरित्र फिर हम पर हावी हो गया है। अपने पुनरुत्थान की प्रक्रिया मे हम फिर उसी सनातन उदासीनता मे पहुँच गये हैं, जहा अगर पचनद के क्षेत्र मे विदेशी हमलावारो के घोडे दौड रहे हैं तो यह पूर्वी उत्तरी या दक्षिणी हिदुस्तानियो के सरोकार की बात नही। हमें अपनी अपनी जात प्यारी है। अपना अपना क्षेत्र और अपने अपने राजा साहब प्यारे हैं। राष्ट्रीय चेतना नाम की भी कोई चीज हुआ करती और आदमी को इस मामले मे दिशाओ पर निरतर आख रखनी होती है—इस सबसे हम अपनी अपनी मढैया के मस्तानो का क्या लेना! जो आज पजाब, कल हमारी छाती पर भी अपनी फौजी धमक कायम करेंगे जरूर, इतना चेत रहा होता हमे, तो मुट्ठी भर गोरा साहबो की कम्पनी सात समुद्र पार आकर हमारी पीठ पर कोडे कहाँ बजा पाती?

विषय को फिलहाल यहाँ सिर्फ अखबारों की दुनिया तक सीमित

करते हुए हम अब फिर सवाल उठाना चाहेंगे कि हमारे राशन पानी, हाट बाजार, रास थियेटर, इल्म-फिल्म, कला संस्कृति इतिहास भूगोल या राजनीति, कवि धूमिल के शब्दो में कहे तो, 'संसद से सड़क तक' के सवालो से वास्ता है इनका। लेकिन अखबार पढ़ते वक्त क्या हमें सचमुच ध्यान रहता है इस बात का? इन कागज की नावो में हमारे छोर तक पहुँच गयी सामग्री को अपने हित के हिसाब से जांचते परखते हैं कभी ? कभी उठाया है हमने यह सवाल कि थप्पड जरूर एक ही हाथ से मार सकता है कोई, लेकिन ताली हमेशा दो हाथो से बजती है ?

आखिर अखबार निकालने वालो ने एकतरफा तौर पर यह फैसला कैसे कर लिया कि हम, जितना ज्यादा सम्भव हो सके चरित्र मे बौना, लेकिन मानसिकता मे सनसनीबाज बना दिया जाय? किसने कर दिया हमारे सारे राजनीतिक नुमाइदो को इस इतमीनान में कि हमारे लिए 'ब्लूस्टार आपरेशन' से लेकर 'ब्लू फिल्मो' तक का ससार सिर्फ तमाशाइयो की हैसियत से हिस्सा लेने का रहेगा- सामाजिक आर्थिक राजनीतिक सांस्कृतिक मुद्दो पर हमारी किसी पहल का कोई मतलब नही होगा। वोट देने के बाद हमे भूल जाना होगा कि डिब्बो मे भरे कागज के टुकडो का आखिर हुआ क्या? लोकतन्त्र का मतलब हमारे लिए सिर्फ हाथ कटाकर देना होगा— कटे हुए पंजो वाले हमारा क्या हाल करेंगे, यह उनके तय करने की बात होगी !

क्या रुख है अखबारनवीसो का हमारे प्रति ? जैसा ये समझाना चाहें उतना ही हमारी समझ को काफी है ? जितना और जैसा ये महसूस कराना चाहे, इससे इधर उधर हमे नही होना है ? ये हमें खुद भी चीजो को छान फटक और जाँच परख लेने की चेतना से लैस करना और इस बात से खबरदार रखना चाहते हैं कि जो अपने सवाल खुद नही उठा सकते, वो कभी स्वाधीन नही रह सकते ? या

कि बेखबर, इस मानसिक वैचारिक जडता में डाले रखना चाहते हैं कि जो कुछ इन्होंने हमें बता दिया, उतना ही हमको जरूरत से ज्यादा है ?

सामाजिक आर्थिक चेतना की जगह, फिल्मी जाकों और साम्प्रदायिक जहरवाद के कीटाणुओं के अड्डे क्यों बढते जा रहे हैं हमारे सोच विचार की दुनिया में ? कौन हैं ये लोग, जो सुबह सुबह गंदे, फूहड और विकृत विज्ञापनों के पोस्टर फैला जाते हैं, हमारे घरों में ? कैसे जान लिया इन्होंने कि हमें अपने देश काल और समाज के सुलगते सवालों से ज्यादा मजा सनसनीखेज हत्याकाण्डों, अश्लील कुत्सित विज्ञापनों तथा फिल्मी सितारों के नगनाच में आता है ? किसने कर दिया इन्हें इस इत्मीनान में कि हमें सकारात्मक राजनीति नहीं, बल्कि सनसनीखेज राजनीतिक कांडों में ज्यादा दिलचस्पी है ? रामस्वरूप कुमारनारायण कांड हो, या फेयरफैक्स बोफोर्स कांड— 'ब्लूस्टार आपरेशन' हो या दिल्ली जमशेदपुर कानपुर के कत्लआम आतंकवाद हो या साम्प्रदायिक दंगे ये सब 'पढने का मजा' लेने वाली चीजें हैं !

हर वस्तु के दो छोर हैं। एक छोर अंधेरा, दूसरा उजाला है। एक छोर जडता दूसरा चेतना का है। एक पर राष्ट्र की सामाजिक-आर्थिक चेतना को जगाने का सवाल है—दूसरे छोर पर सारे शोषण उत्पीडन से उदासीन पड़े रहने का। हमारे अखबारनवीस हमें किस छोर पर रखना चाहते हैं ?

जो कागज पर की लिखत के प्रति उदासीन हों उन्हें गारत होते ज्यादा वक्त लगता नहीं। कुछ नहीं इस संसार में, जिसे कागज के बिना एक कदम भी आगे चलाया जा सकता हो। कागजी कार्यवाहियों के बिना किसी कार्यवाही का कोई अस्तित्व नहीं। वह हर चीज कागज है, जिसमें कुछ दर्ज है। ध्यान से देखें, तभी जान सकेंगे कि 'कागज की नाव' में क्या दर्ज किया गया है।

● ●

किसको किससे खतरा है ?

खतरे का सवाल बहुत व्यापक है। हम यहाँ, फिलहाल, एक सीमित प्रसग मे बात करना चाहते हैं। हिन्दुओ से मुसलमानो और मुसलमानो से हिन्दुओ को खतरे पर। दृष्टांत के लिए भी 'राम ज मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद' के नाजुक सवाल को ही इसलिए सामने रखना चाहेंगे कि इस हमाम में हमारी साप्रदायिक नगई अब बिलकुल साफ साफ झलकने लगी। हिन्दू मुस्लिम साम्प्रदायिकता की आग जितनी इस प्रकरण पर फूटी है वह दोनों सम्प्रदायो के धार्मिक पाखण्ड, साप्रदायिक जहर और नैतिक उजाड़ की ऐसी भयावह शक्ल सामने लाती है, जो आने वाले वक्तों में कभी पूरे देश मे आग का दरिया फैला सकती है।

हिन्दुओ और मुसलमानो का धर्म के नाम पर सडक के साँडो की तरह फुफकारना धर्मनिरपेक्ष राज्य व्यवस्था की सरेआम धज्जियाँ उडा रहा है, लेकिन केन्द्र मे बैठे भारतभाग्यविधाताओ को आज भी राजनीतिक जुगालियों से फुर्सत नही। जबकि देश के नागरिको के बीच साप्रदायिक धार्मिक टकरावो को लेकर सबसे पहले (और सबसे ज्यादा) चिंता उस सरकार को होनी चाहिये, जो धर्मनिरपेक्ष

राज्य का दावा रखती हो। जबकि आजादी के तुरन्त बाद से ही भारत सरकारों का काम ताला ठोकने और ताला खुलवाने तक सीमित रहा है। जंगल की आग की तरह सुलगते सवाल पर इस शुद्ध देशी चादरतान उदासीनता का रहस्य क्या है? धर्मनिरपेक्षता का मतलब धार्मिक साम्प्रदायिक द्वंद्वों तथा टकरावों की छूट भी मान लें, तो भी कानून व्यवस्था का सवाल बाकी रह जाता है। सरकार यह प्रभाव उत्पन्न करने से हमेशा कतराती रही है कि धार्मिक मसलों को कानून से ऊपर नहीं आने दिया जायेगा। स्वर्णमंदिर में 'ब्लैकथंडर आपरेशन' के बाद धर्म को राष्ट्र के कानूनों से ऊपर नहीं आने देने और राजनीति में धर्म के घालमेल से बचने की उद्घोषणाएँ जरूर तेजी पर हैं इधर, लेकिन इस बुनियादी सवाल से अब भी कोई रास्ता दिखता नहीं कि जब धर्म और जाति के समीकरण से चुनाव की प्रथा चलन में हो, तब राजनीति से धर्म का बहिष्कार होगा कैसे?

सिर्फ इतना ही काफी होता कि नाना प्रकार के धार्मिक विश्वासों रीति रिवाजों और परम्पराओं वाले समुदायों को यह बात साफ पता रहती कि देश में कानून का राज्य है और कैसे भी धार्मिक विवादों को सिर्फ कानून के भीतर ही हल किया जा सकता है—साम्प्रदायिक शक्ति प्रदर्शन के द्वारा नहीं। संविधान में जनहित और राष्ट्रहित में रोक लगाने की स्पष्ट व्यवस्था है, लेकिन सरकार समय समय पर साम्प्रदायिक शक्ति प्रदर्शनों को खुली छूट देती चली आ रही है। 'राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद' मामले का सबसे खतरनाक पक्ष यही है कि हिन्दू और मुस्लिम साम्प्रदायिक शक्ति प्रदर्शन का मुद्दा बना दिया गया है। मुसलमानों के कठमुल्ले प्रतिनिधियों का तर्क है कि बाबरी मस्जिद के मामले में दब जाने का मतलब हमेशा हमेशा के लिए हिन्दुओं के दबाव में आ जाना होगा। हिन्दू धर्मधुरीणों ने हंगामा खड़ा कर दिया है कि राम जन्मभूमि पर मुसलमानों का कब्जा रहना हिन्दू जाति की कायरता, दब्बू मानसिकता और सरकार के मुस्लिम

परस्त होने का सबूत बना रहेगा।

इस मामले का एक दिलचस्प पहलू यह भी है कि बाबरी मस्जिद एक्शन कमेटी के रहनुमा भारत सरकार पर हिंदूपरस्ती का इल्जाम लगाते नहीं थकते और राम जन्मभूमि मुक्ति संगठन के कर्ता-धर्ता मुस्लिमपरस्ती का। और आश्चर्य कि सरकार को इस यथास्थिति के कायम रहने में ही धर्मनिरपेक्ष राज्य की कामयाबी दिखाई पड़ रही है। जबकि कोई भी सरकार एक ही समय में मुस्लिमपरस्त और हिंदू-वादी, दोनों साथ-साथ नहीं हो सकती। और अगर ऐसा भ्रम बनता हो, तो इसका सीधा मतलब होगा कि सरकार दोनों सम्प्रदायों के साँपों को दूध पिलाती चल रही है।

आये दिन इस तरह के समाचार आते रहते हैं कि मुसलमानों की ईद और मुहर्रम पर फलां-फलां जगह के हिंदुओं ने कैसे साझेदारी निभाई तथा रामलीला, भरत-मिलाप या होली-दीवाली पर मुसलमानों ने हिंदुओं के कंधे से कंधा मिलाए रखा। देश के अधिकांश खेति-हर इलाकों में आज भी हिंदू-मुस्लिमों का सम्बन्ध एक ही धरती के बेटों के मेल-मिलाप का संबंध है। समाज के प्रबुद्ध तथा संवेदनशील तबकों की पक्षधरता भी सामुदायिक सौमनस्य के प्रति है, साम्प्रदायिक दरिंदगी नहीं। तब भी यह 'लेके रहेंगे बाबरी मस्जिद!' और 'मुक्त करेंगे जन्मभूमि को, तभी करेंगे हम विश्राम—हिंदू को धिक्कार है तब तक, जब तक बंधन में हैं राम!' की गगनभेदी चिंघाड़ कायम क्यों है?

अब थोड़ा इस प्रसंग पर भी विचार कर लें कि क्या राम जन्म-भूमि बनाम बाबरीमस्जिद का मामला वास्तव में ऐसा मसला है कि जो हमेशा-हमेशा के लिए एक-न-एक समुदाय को नीचा दिखाए बिना हल हो ही नहीं सकता? क्या इतिहास की गवाहियां यह सिद्ध करने में सचमुच असमर्थ हैं कि पहले जन्मभूमि का अस्तित्व था, या

मस्जिद का ? मान लें कि इतिहास का सच हमारे सबधों को भाई चारे की आड नही देता, बल्कि आड़े आता है, तो भी सवाल सामन होगा कि 'सारे जहाँ से अच्छा हिन्दोस्ता हमारा, हम बुलबुलें हैं इसकी, ये गुलशिता हमारा !' के वृन्दगान का मतलब क्या माना जाय ? एक देश के बाशिदो की तरह जीने के आकाक्षी लोगों म इतना भी सहज विवेक और सोमनस्य नहीं कि इतिहास के काले धब्बों को आपस की साझेन्दारी से साफ कर सकें ? अगर नही, तो ऐसे जड तथा दुर्बुद्धि लोगो को साम्प्रदायिकता का जहर घोलने से कौन रोक सकता है, जबकि धर्मनिरपेक्ष राज्य का मतलब धार्मिक साम्प्रदायिक हगामों की खुली छूट के सिवा और कुछ नही हो ?

क्या होना चाहिये पूरे देश के लिए एक खतरनाक नासूर इस वितण्डावाद का, इस बहस म फिलहाल यहाँ सिर्फ यह सवाल उठाना चाहेंगे कि क्या हम इस धार्मिक साम्प्रदायिक जहरबाद का हल हकीकत मे चाहते भी हैं ?

समस्याएँ दो तरह की होती हैं। एक, जिनका हल कोशिशो के बावजूद नही निकल पा रहा हो। दूसरी, सारा जोर जिन्हें बनाये रखने पर होता है। 'राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद' समस्या दूसरी तरह की समस्या है। इस समस्या को खडी करने के पीछे भले ही शुद्ध धार्मिक साम्प्रदायिक भावनाए काम करती हो, लेकिन इसे लगातार खडी रखने, और मौके के हिसाब से दबाने या उभाडने के पीछे सत्ता की सियासतबाजी काम करती चली आ रही है।

दोनो धडो के धार्मिक साम्प्रदायिक नेताओ के किसी भी नतीजे पर नही पहुँचने के लिए लडाई जारी रखने के सारे मकट सग्राम का रहस्य यही है कि समस्या के हल होने का मतलब होगा, उनकी धार्मिक साम्प्रदायिक सियासत की तिजारत का रास्ता बद होना। राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद का सारा झगडा हिन्दू मुसलमानो की

धार्मिक, साम्प्रदायिक भावनाओ को भडकाकर, खुद की राजनीतिक तिजारत कायम रखने वालों का करिश्मा है। इस समस्या के हल होने का मतलब एक सदाबहार राजनीतिक धधे का हाथो से निकल जाना है। अन्यथा इतना कौन नही जानता कि साडो के लगातार नथुने फुलाते घूमने का सीधा मतलब है कि नकेल कही और है।

आखिर एक न एक दिन इस फैसलाकुन मुकाम पर पहुँचना जरूरी होगा कि राम ज मभूमि या कि बाबरी मस्जिद ! ऐसे मे यह सवाल आज ही पूछ लेने मे क्या हर्ज है कि कौन और कैसे लेकर रहेगे बाबरी मस्जिद ? कौन और कसे स्थापित करेंगे अखण्ड राम जन्मभूमि ? और कब ? कब निकलेगा आखिर वह मुहूत, जबकि बाबरी मस्जिद और राम ज मभूमि के दावेदारो के बीच आखिरी फैसले की लडाई लडी जायेगी ? और धमयुद्ध का ऊट इस या उस करवट बैठकर, अटकलो की सासत से मुक्त करेगा ?

जहा तक हम समझते हैं, बाजुओ के जोर पर फैसला करने की नौबत सिफ तभी आ सकती है, जबकि सरकार और कानून व्यवस्था नाम की चीज खत्म हो जाय, अराजकता और गृहयुद्ध का दौर चल पडे — और या सरकार भी तय कर ले कि अब मसले का खत्म हो जाना ही उसके हक मे है। जब तक सरकार किसी एक के पीछे नहीं, दोनो के साथ मौजूद है, तब तक ही दोनो धडो के कठमुल्लो की मारी 'फो फो' कायम है। जिस दिन सरकार किसी एक धडे की पीठ थपथपा देगी, दूसरा मिट्टी सूँघता दिखाई दगा। धार्मिक साम्प्रदायिक विवाद, में सरकार को पच बनाये रखने की मौजूदा भेडचाल हिदू मुसलमान, दोनो को आत्मविनाश के मुकाम पर ले जायेगी। और दोनों मे से किसी एक को पजाब की नियति से सामना पडेगा जरूर! राम ज म भूमि बनाम बाबरी मस्जिद के धार्मिक साम्प्रदायिक उन्माद को सरकारी छूट के हिसाब से बुल द रखने के नतीजे जब भी निकलेंगे, हिन्दू मुसलमान, दोनो की बर्बादी मे निकलेंगे। क्योकि जो भी बात देश के

हक म नही हो, बाशिंदो के हक म कभी नहीं होगी ।

झगडा खडा करना, लेकिन नतीजों से बचना, य दो काम साथ साथ नही हो सकते । जब तक राम ज मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद का कोई दोनो समुदायो को स्वीकार नतीजा नही निकलेगा, तब तक भी इस साप्रदायिक धार्मिक जहरवाद के नतीजे निकलते ही रहेंगे। अयोध्या की भूमि पर कायम यह साप्रदायिक जहर भिवण्डी अहमदा बाद-मुरादाबाद मेरठ औरंगाबाद वगरा क्षेत्रो मे अपना असर दिखाता रहेगा । इसे कायम रखना अमन और भाईचारापसन्द लोगों क हक मे नही । इस नासूर के कायम रहते हि दू मुसलमान एकता की सारी खामखयालिया बेकार हैं । हिन्दू सिखो के बीच जो सिर फुटव्वल स्वण मदिर की राजनीति ने कायम की, उसके नतीजे सामने हैं । समय रहते नही सँभले हम, तो 'राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद' का अजाम इससे भी बन्तर तौर पर सामने आयेगा । अपना अपना मौका ताडने और दाव लगाने की ताक मे बठे लोगो के बीच कोई भाईचारा कभी किसी हाल म कायम नही हो सकता । राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद के झगडे ने हि दू और मुसलमानो की पूरी मानसिकता मे जहर घोल दिया है । एक दूसरे को दुश्मन की शक्ल मे देखने का ही यह नतीजा है कि अगर मुसलमान के कान मे 'इस्लाम खतरे मे है!' की अजान पडती है ता वह जल्दी से कान नही हटा पाता । और 'हिन्दू धम सकट मे है!' की चिल्ल सुनते ही हि दू को होता है कि मुसलमानो के मौजूद रहते यही होना है ।

आज के हालात क्या हैं ? हि दू को मुसलमानो से खतरा है मुसलमान को हि दुओ से ! ताज्जुब कि जिस धार्मिक साप्रदायिक सिया सतबाजी स हिन्दू मुसलमान सिख ईसाई भारत के हर एक नागरिक को खतरा है उसी से खतरा कोई महसूस नही करता ! यहाँ हम यह सवाल सीधे सीधे उठाना चाहते हैं कि अगर सचमुच हकीकत यही है कि हि दुओ से मुसलमानो और मुसलमानो से हि दुओ को खतरा है,

फिर यह धर्मनिरपेक्ष भारत सरकार किस मर्ज की दवा है ? इसके माथे पर मौजूद रहते सबके सब एक दूसरे से इतनी नफरत और दहशत में क्यों हैं ? हर एक समुदाय के लोगों को यह भरोसा क्यों नहीं है कि अगर कभी कहीं कोई झगड़ा उठा भी, तो सरकार सिर पर मौजूद है ? सर्वप्रभुत्वसम्पन्न धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्रात्मक गणराज्य के कायम रहते हिंदुओं को मुसलमानों और मुसलमानों को हिन्दुओं से खतरा क्यों है ?

राम जन्मभूमि बनाम बाबरी मस्जिद एक सुलगता सवाल है और इस सवाल से भागना ठीक नहीं । इतना कह लेने की हमें इजाजत रहे कि अगर भारत सरकार सचमुच हिंदू मुस्लिम एकता कायम रखना चाहती हो, तो यह सवाल खुद उसके हक में भी उतना ही है, जितना हमारे ।

● ●

हिन्दू और मुसलमान

कितना कम फासला है, रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद में, लेकिन कितना लम्बा ! एक तरफ राम जानकी रथ के चक्के इस दूरी को नापते नापते थक चुके, दूसरी ओर 'लेके रहेंगे बाबरी मस्जिद !' का जिहादी सफर तय करने वालो को तलुओ मे पडे छालो ने बेहाल कर रखा है ! हिंदू और मुसलमान के बीच का फासला भी एक तरह से कितना कम है, और दूसरी तरह से कितना ज्यादा ! इस फिक्र मे ही हमने कहा कि — हम तुम्हारे किसी तरह न हुए तुम हमारे किसी तरह न हुए ! वर्ना दुनिया की तो बात ही छोड दें, इसी 'हिंदूस्तान' तक मे मिसालें कुछ कम नहीं कि जब जब हिंदू मुसलमान और मुसलमान हिंदू का हुआ है तब-तब इतिहास मे कुछ बेमिसाल दृष्टांत उपस्थित हुए हैं। घुर इस्लामी शहशाहो के ही राज मे हिंदू मुसलमान के बीच दगों जैसी किसी हैवानियत को कोई पनाह नहीं मिली है। इस्लामी खून और हिंदूस्तानी दूध के मेल ने अमीर खुसरो जैसी बेमिसाल भारतीय हस्ती को नुमाया कर दिखाया है। हिंदू और मुसलमान के बारे मे इतिहास तक यही कहता बताया जाता है कि आर्यों का एक जत्था मध्य एशिया से ईसापूर्व की शताब्दियों में चला

था, दूसरा ईसवी तारीख के हजार सालो के बाद ? गगा जमुनी सस्कृति जैसी अपूर्व तथा असम्भव चीज का वजूद कौन सी कहानी कहता आ रहा है, हिन्दू के मुसलमान और मुसलमान के हिन्दू का होने के नतीजो की लाजवाब कहानी के सिवा ?

सस्कृति के मामले मे भारत एक अजब मुल्क रहा है। आक्राता और मूल निवासियो के मेल मिलाप से सास्कृतिक उत्थान की एक लम्बी परम्परा रही है इस देश मे। जहा भारतीय सस्कृति आर्यों और द्रविडो के सगम की देन है, वही हिन्दुओ और मुसलमानो के साझे का चमत्कार है— भारतीय सस्कृति का उत्तरपक्ष, गगा जमुनी सस्कृति! लेकिन इस हिन्दू मुसलमान मामले का एक दूसरा पहलू भी है। गगा-जमुनी सस्कृति की गवाही के बरअक्स हिन्दू मुसलमान के झगडो की कहानी भी उतनी ही बडी है। जितनी लबी और गहरी साझेदारी, उतनी ही भीषण मारामारी भी दर्ज है, हिन्दू और मुसलमान के इतिहास के पन्नो मे। जितना उजला है इसका हिन्दू मुसलमान की साझीदारी वाला पहलू, उतना ही स्याह है, दूध मे घुला अग्रेजो की कूटनीति के जहर वाला हिस्सा ! बदनसीबी दोनो, और साथ साथ मुल्क, की कि अग्रेजों का बोया जहर उस काग्रेस की छत्रछाया मे लबालब लहराता नजर आ रहा है, जिसकी नीव मे महात्मा गाधी की अस्थियो के फासफोरस की चमक भी गुम होती जान पडती है।

हम पहेलियाँ नही बुझा रहे। हिन्दू मुसलमान का सवाल इस मुल्क का हजार साल लम्बा सवाल है। पाकिस्तान से यह सवाल हल नही, और जटिल हो गया। विडम्बना यह है कि पाकिस्तान, 'पूरे में से एक हिस्सा हमारा अलग' साबित करता, एक किनारे हो गया और बाकी के हिन्दुस्तान मे बरकरार रह गया है, पाकिस्तान जाने से इन्कार करने वाले मुसलमानो का साझा! यानी भारत ही नही, बल्कि भारतीय सस्कृति की गगा जमुनी साझीदारी में से भी अपना

हिस्सा अलग लेके चैन की बंशी बजा रहा है पाकिस्तान और इस साझा संस्कृति को पूरी की पूरी जिम्मेदारी लद गयी है दोनों पंथों के अंग भंग से लहूलुहान भारतवर्ष नाम के उस मुल्क पर, जिसकी फिजा में जब भी 'सारे जहां से अच्छा हिंदोस्तां हमारा!' का गान गूंजता है, तो बरबस याद आ जाता है कि इसके मुरीद मौलाना जोश मलीहाबादी की कब्र पर का चिराग टिमटिमाता है, पाकिस्तान में!

कट्टरपंथी हिंदू भारतीय मुसलमान की इसी कमजोर नब्ज को सबसे पहले और सबसे ज्यादा छेड़ना चाहता है। वह इस सच्चाई को दरकिनार कर देना चाहता है कि जिन मुसलमानों ने पाकिस्तान जाने से इंकार कर दिया, उन्हीं की बदौलत बचा रह गया भारत, पाकिस्तान की नकल का हिंदुस्थान बनने से! कट्टर इसलामी मुल्क की हैसियत बना चुके पाकिस्तान और बंगलादेश के अगल बगल भारत आज भी हिंदू राष्ट्र की तानाशाही शक्ल में नहीं खड़ा है, तो इसका कुछ श्रेय उन मुसलमानों को भी है, जिन्होंने पाकिस्तान जाने से इंकार किया! लेकिन अगर आज हिंदुओं का खौफ फिर यही है कि एक पाकिस्तान और तयार करने में लगे हैं ये भारत में बच रहे मुसलमान, तो इसकी सारी जिम्मेदारी आयद होती है, कांग्रेसी हुकूमत पर, जिसने कि न हिंदू का मुसलमान का बनाये रखने की कोई चिन्ता रखी, न मुसलमान को हिंदू का!

भारत के मुसलमान अंग्रेज नहीं। इन्हें समुंदर पार खदेड़ने का कोई मौका हिंदुओं के पास नहीं। ये भारत के साझीदार हैं, और रहेंगे। यह साझीदारी फिर से मुल्क के बटवारे के मुकाम तक नहीं पहुंचे, यह जिम्मेदारी हिंदू और मुसलमान, दोनों पर बराबर है। भारत का पूरा भविष्य एक इसी बात पर टिका है कि क्या करना है है हिंदुओं को मुसलमानों, और क्या मुसलमानों को हिंदुओं का! जैसा कि पहले ही कहा, दोनों के बीच का फासला जितना कम, उतना ही ज्यादा भी है। यहां तक कि खून और दूध में भी। भारत का मुस-

समान 'एंग्लोइण्डियन' नहीं, लेकिन जितना ज्यादा उसे उकसाया जायेगा, उतना ही वह मजहब की छतरी तानेगा जरूर।

कट्टरपंथी मुसलमान, हिन्दू और कांग्रेसी हुकूमत, तीनों यही काम करते चले आ रहे हैं। इन तीनों को ही भारत से कुछ लेना देना नहीं। इन्हें कुछ भी इल्म नहीं कि हिन्दू मुसलमान की एकता ही भारत को गारत होने से बचा सकती है। धर्मांध गिद्धों की आंखें ही सबसे ज्यादा कमजोर हैं। चेतना पर चढ़ी चर्बी की परतों ने इनकी आंखों की ज्योति को ढक लिया है। इनको महाकाल से बड़ा हो गया है तत्काल! अपने तत्काल के स्वार्थों के लिए ये भारत के भविष्य को अंधे कुए में ढकेलने से परहेज करने से रहे। हिन्दू और मुसलमानों के बीच अलगाव और नफरत को बढ़ाते ही जाना आखिर आखिर फिर देश को बटवारे तथा खून खराबे के मुकाम पर पहुंचा कर ही रहेगा, इस सचाई से ये सभी अपना चेहरा छिपाये ही रहना चाहते हैं। इनकी सारी फिक्र खुद तक महदूद है। देश की सरहदों या इन्सान की वेदनाओं के सवाल, इनके नजदीक निरे फालतू सवाल हैं जबकि हम फिर जोर देकर यही कहना चाहेंगे कि भारत का सबसे बड़ा सवाल यही है—क्या करना है हिन्दुओं को मुसलमानों का और क्या करना है मुसलमानों को हिन्दुओं का? और यह सवाल जब तक खुल्लमखुल्ला पूरे देश में नहीं पूछा जायेगा, तब तक हम कभी समझ नहीं पायेंगे कि हिन्दू मुसलमान का सवाल दरअसल कितना बड़ा सवाल है।

हमारी समझ में क्या करना चाहिये हिन्दुओं को मुसलमानों और मुसलमानों को हिन्दुओं का, इस तफसील को छोड़ते हुए, यहां फिलहाल हम इतना इशारा भर करना चाहेंगे कि दोनों के बीच जहरीला धुआं फैलाने का जरिया बन गई है, धर्म और मजहब के उपलों की आंच में खून की दाल बाटी पकाने की सियासत। जब तक इस सिया

मत का मुह नहीं तोड़ा जायेगा, तब तक हिंदू के मुसलमान और मुसलमान के हिंदू से टकराने, यानी आखिर आखिर भारत के टूटने का खतरा भी हर्गिज कम नहीं होगा।

राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद के विवाद ने हिंदू और मुसलमान के दोफाड़ होने का खतरा ही उत्पन्न नहीं किया है, बल्कि वक्त रहते इस नाजुक सवाल को बहुत नजदीक, उतने ही ध्यान से भी देख और समझ लेने का सुनहरा मौका भी सामने जरूर कर दिया है कि क्या करना है हिंदुओं को मुसलमानों और क्या करना है, मुसलमानों को हिंदुओं का। अगर भारत सरकार यह दावा करना चाहे कि इस अहम सवाल म उसकी भी दिलचस्पी कम नहीं, तो हमें उसे भी इस सुलगते सवाल मे शामिल होते देखकर गहरी खुशी ही होगी क्योंकि जब तक सरकार हिंदू और मुसलमान के बीच क झगड़ों को सियासत के मुक्कुट सग्राम की शक्ल मे बदलते रहने पर जोर देगी, तब तक हिंदू मुसलमान के एक दूसरे के होने का सवाल भी हवा में झूलता रहेगा। यह उसी की तमाशबीनी का करिश्मा है कि राम जन्मभूमि के प्रात गान और बाबरी मस्जिद की अजानें गगा जमुनी संस्कृति का अनहद नाद उत्पन्न करने की जगह, हिंदू मुसलमान दगों का निमित्त बने हुए हैं। वर्ना पंडित भीमसेन जोशी और उस्ताद अमीर खां साहब के आलापों में फर्क कितना!

• •

मजहब बड़ा कि मुल्क ?

राम जन्मभूमि और बाबरी मस्जिद मामले में, अपनी बात फिलहाल आखिरी तौर पर कहते हुए इतना हम पहले ही कहना चाहेंगे कि भारत के मुसलमानों को एक ही तर्क को सबसे पहले रद्द करना होगा—मुल्क से पहले या मुल्क से ऊपर मजहब को मानने के तर्क को । क्योंकि इसी तर्क से भारत के एक हिस्से का नाम पाकिस्तान हुआ! और इसी कुतर्क की उपज है खालिस्तान का भूत।

यों भी देखिये कि आदमी की सबसे बड़ी नियामत क्या है—मिट्टी, हवा पानी और कुदरत, या कि मजहब ? इतना कह लेने की इजाजत रहे कि जो भी चीज आदमी आदमी के बीच की खाई को चौड़ा करती जाय, वह हर हाल मे खोटी है। हवा-पानी और मिट्टी को इसान इसान मे कुछ भी भेद नहीं। गगा को हिन्दू के निमित्त भी वैसे ही बहना है, जैसे मुसलमान के। हवा हिन्दू-मुसलमान को अलग अलग चलने से रही। मिट्टी ने दोनो में फर्क मरते दम तक नहीं करना। जिसे हम भारतीय संस्कृति मे गगा जमुनी कलम का नाम देना चाहेंगे, वह इसके सिवा और है क्या कि धरती को जैसे हिन्दू मुसलमान, वैसे ही सनातन धर्म और इस्लाम में कुछ फर्क

नहीं ! लेकिन इंसान की तो फितरत है कि वह फर्क करता चले। सवाल, बस इतना है कि यह फर्क करने की फितरत उसे ले कहां जाती है—अच्छे और बुरे का फर्क करने की तमीज में, या इंसान को इंसान से नफरत के मुहाने पर !

सनातन धर्म और इस्लाम को एक दूसरे से साझेदारी में कोई रुकावट नहीं मानने का नतीजा है—गंगा-जमुनी संस्कृति ! और रुकावट खड़ी करने की मुहिम का नतीजा है—रामजन्मभूमि और बाबरी मस्जिद का बवालेजान ! बस, दूध में काजी का पड़ना हो गया। नहीं तो हिन्दू और मुसलमान की साझेदारी बनते ही राम जन्मभूमि के पक्ष में मुसलमान खड़े पाये जाते और बाबरी मस्जिद के पक्ष में हिन्दू ! दोनों के सिर्फ इस सोच में पहुँचने की देर थी कि झगड़ा खड़ा नहीं रखना, किसी हाल में जहर घुलने नहीं देना है। बन्दर और बन्दर के झगड़े में आखिर आखिर बन्दरों को ही लहूलुहान होना है मदारी को नहीं !—बस, इतनी सी समझदारी ने हिन्दू मुसलमान की साझेदारी को फिर दोआबे की हरियाली में बदलना था। दोनों को धिक्कार कि मर्कट संग्राम की मारामारी में मग्न हैं !

अब जरा फिर इस प्रसंग पर आयें कि मजहब और मुल्क की आदमी की जिन्दगी में भूमिका क्या है। हम आप को हजार ऐसे लोगों को गिना देंगे जो न सनातन धर्म के मुरीद, और न ही इस्लाम या इसाइयत के पुजारी, लेकिन फिर भी न सिर्फ इतना कि बाकायदा बल्कि निहायत इमानदार, शरीफ नेकबख्त इंसान के रूप में वर्तमान होंगे। हम आप को धर्म या मजहब के बिना जिन्दा लोगों को हजारों लाखों की संख्या में दिखा देंगे और आप हमें सिर्फ एक आदमी दिखा दीजिए, जो कि हवा पानी और मिट्टी के बिना जिन्दा हो !

जी हां, हम बिल्कुल यही अर्ज करना चाहेंगे कि आदमी का

बुनियादी आधार मिट्टी हवा पानी और कुदरत है – मजहब इन सबसे बाद की चीज है और अगर यह आदमी के मिटटी हवा पानी की तासीर को और बेहतर समझने, या आदमी को आदमी का बनाने के काम आने वाला नही, तो न सिर्फ यह कि ऐसा मजहब किसी काम की चीज नहीं, बल्कि बेहूदा और खतरनाक चीज है।

लगे हाथों, इसी सिलसिले मे, अब हम एक उस बात का जिक्र करना चाहेंगे जिसे हम हिंदू और मुसलमान के बीच का एक अहम मसला मानते हैं। क्या मतलब होता है मिट्टी हवा पानी और कुदरत की आभा और क्या धर्म और मजहब के अधाकुप्प का, यह तमीज नही होने से ही हमें हिंदू और मुसलमान मामले के इस सबसे प्रासंगिक पहलू की भी कोई तमीज नहीं कि मजहबी कठमुल्लापन शहरो मे ही ज्यादा क्यो है? हिंदू-मुस्लिम दगो की जहन्नुमी आग शहरो के सीनो मे ही क्यो ज्यादा धधकती रहती है, गावो म क्यो नही? और यह सवाल मई 1987 के मेरठ दगो के बाद और भी ज्यादा जरूरी हो गया है क्योकि इन दगो मे शहरो का जहन्नुम गावो की सरहदो तक भी पैर पसारता साफ नजर आया है।

इसलिए, हिंदू मुसलमान के मामले मे, हमे यह सवाल भी आखिर आखिर उठाना ही होगा कि क्या वजह है, जो कि कट्टर-पंथी हिन्दू और कठमुल्ले मुसलमानो का डेरा ज्यादातर शहरों मे ही पाया जाता है, गावो मे नही? 1947 के विभाजन की त्रासदी इतनी जल्दी भुला देने की चीज नही। चार लाख से ज्यादा लोगो के कत्ल और करोडो के बेघर बेआसरा हो जाने का हादसा इतनी छोटी चीज नही। हमारा तथाकथित राष्ट्रीय नेतृत्व अब सिर्फ 1947 के झण्डे फहराने की घटना की याद दिलाना चाहता है हमे। उस महाविनाश का वह कोई हवाला नहीं देना चाहता, जिसमें लाखो करोडों निर्दोष हिन्दू मुसलमानो को कत्लेआम के काले तूफानो का आखेट बना दिया गया। हमारी सरकार हमे यह याद दिलाना

नहीं पसन्द करती कि वह शहर और गांव, दोनो मुकामों पर धर्मांधता और मजहबी जनून के आग के दरिया के फैल जाने का नतीजा था। न ही तथाकथित विपक्षी पार्टियों को फिक्र है कि लोगों को आगाह नहीं करना ही धोखे की राजनीति खेलना है। लेकिन हिन्दू और मुसलमानों को अपनी खैर चाहिये हो, तो उनको इतना सबसे पहले और सबसे ज्यादा याद रखना होगा कि जिस दिन हिंदू मुस्लिम दगों की आग का दरिया फिर शहरों की हदें तोडकर गावों तक जा पहुँचा, दुबारा वही सन् 47 हिन्दू के सामने भी होगा —और मुसलमान के सामने भी!

'देश का विभाजन हमारी लाशो पर होगा!' का अभयदान बूकने वाले राजनीतिक नेताओं की जात अभी बरकरार है। और हम सभी जानते हैं कि उनकी बात पूरी तरह सच निकली। देश का बटवारा लाशो के बीच ही हुआ—लाखो लाशो के ढेरो के बीच—मगर इन लाशो मे अग्रेजो के विरासतदार अभयदानियो में से किसी की लाश नही थी। यहाँ तक कि महात्मा गाधी की भी नहीं। इतिहास के इस सच को भुलाने पर हम फिर कभी न कभी उसी मुकाम पर सिर धुनते खडे होंगे। वही सन् 1947 हमारे सिर पर फिर काल की तरह मडरा रहा होगा और इक्कीसवीं सदी मे पहुँच चुके होने का मुगालता तब हमारे किसी काम आयेगा नहीं!

हिन्दू और मुसलमान के बीच नफरत को पकाते जाने का अजाम कहाँ तक जा सकता है, इस सवाल से बेखबर रखना या रहना, दोनों खतरनाक हैं। भारत के गारत होने से बच रहने का सिर्फ एक ही रास्ता है—हिंदू के मुसलमान और मुसलमान के हिन्दू का होकर रहने का रास्ता!—कहना जरूरी नहीं कि सिखो और ईसाइयो की भी साझेदारी का सवाल इसी एक बडे सवाल में जज्ब है। क्योंकि अहम सवाल भारत को नाना धर्मों और रीति रिवाजों की रगारग टा में देखने की आकाक्षा का है। इस समझदारी का है कि नाना

धर्मों और रीति रिवाजों की साझीदारी ही साम्प्रदायिक मारामारी के सिलसिले को रोक सकेगी। जो हिन्दू मुसलमान, वह उतना ही सिख और ईसाइयो पारसियो का भी होगा। यही कैफियत मुसलमान की होगी। एक देश मे नाना जातियो-धर्मों की साझीदारी से ही भारत भारतीय सस्कृति का दावेदार बना है, यह तमीज ही हमें मजहब और मुल्क को एक-दूसरे के विरुद्ध खडा नहीं करने की समझदार में भी ले जायेगी। और तब हम इस सवाल मे और ज्यादा गहराई से जा सकेगे कि सारे धार्मिक मजहबी जहरबाद के अड्डे शहरो में ही क्यो और किस तरह कायम हैं। और कि शहरो के इन देश द्रोही अड्डों को अगर बाकायदे पनाह मिल रही है, तो आखिर कहा से, और क्यो मिल रही है ?

भारतीयता का हक देश की मिटटी का हक पहले है, मजहब और जाति का, बहुत बाद मे। जिसमे भारत की मिटटी बोलती हो, वही असली हिन्दू, यानी हिन्दुस्तानी है। जिसमे सिर्फ मजहब या धर्म के उल्लू बोलते हो, वह हरहाल मे देशद्रोही है—फिर वह चाहे *हिन्दू हो कि मुसलमान, सिख हो कि ईसाई पारसी।* हिन्दू और मुसलमान मे जब-जब साझीदारी हुई, इसी तमीज के तहत हुई है।

मिटटी—दूसरे शब्दों मे कहे, तो देश—पर सबसे पहला हक उसका है, जिसका उसकी मिटटी से तादात्म्य हो। जिसे उसमे मा का सा रूप झिलमिलाता दिखायी पडता हो। जो उसे खुद की पैदाइश और परवरिश की भूमि के तौर पर देखता हो। जो इस बात पर ईमान लाता हो कि एक ही धरती की कोख से निकले हुओं में चू कि मिटटी हवा पानी और आकाश तथा अग्नि की मिकदार का अलग-अलग होना मुमकिन नहीं, इसलिए दूध और खून में भी जो फर्क होगा, वह एक की जान का दुश्मन दूसरे को बनाने वाला जहर तो हर्गिज नहीं होगा।

जो मिट्टी का नही हुआ, वह किसी का नहीं हो सकता।

मिट्टी हिन्दू मुसलमान ही नहीं, इंसान मात्र के लिए अपना मुंह एक समान खोलती है। पृथ्वी माता है और हम उसकी संतति, इतना जिसकी समझ में आ गया उसे इतना समझने में क्या देर लगती है कि हिन्दू मुसलमान का कैसे हो सकता है और मुसलमान हिन्दू का!

मिट्टी की तासीर को समझने वाला ही मजहब और धर्म की जड़ों तक भी पहुँच सकता है। जिसकी जड़ मिट्टी में नहीं, मजहब में होना नामुमकिन है।

• •

सवाल का हक

कभी कभी भारत सरकार अचानक कोई नैतिक झटका देती है। धर्माचार्यों तक तो ठीक, लेकिन कई बार साहित्याचार्यों को भी दूरदर्शन के रुपहले पर्दे पर प्रस्तुत करके, इतना पुन तो वह कमा ही लेती है कि हम राष्ट्र की वेदना को स्वय उसके वाणीपुत्रों के श्रीमुख से सुन सकें। —अभी कुछ समय पहले हिंदी के अजातशत्रु साहित्यकार विष्णु प्रभाकर जी को आतकवाद के विरुद्ध बोलते देखा, तो ध्यान लगाकर सुनना जरूरी हुआ। साहित्यकारो के बीच विष्णु जी की छवि लगभग कबीर की चदरिया मानी जाती है। उनसे गलतबयानी की बात सोचना कुफ्र है। वो सरकार के पक्ष मे झूठ बोलेंगे, इसकी कल्पना भी कष्टप्रद ही हो सकती है क्योंकि विष्णु जी जितना सादगी, उतने ही सचाई के लिये भी जाने जाते हैं। —लेकिन 'काजल की कोठरी मे कैसोहू सयानो जावे' मुहावरा कहां जायेगा ?

स्पष्ट है कि 'दूरदर्शन—समाचार' मे विष्णु जी के बयान का उतना ही अश प्रसारित किया गया, जितने से वास्तविकता का एक ही छोर प्रकट हो— *यानी अर्द्धसत्य!* *उनके प्रसारित वक्तव्य का* कुल सार इतना कि— देश मे अचानक जो आतकवाद का सिलसिला चल

पडा है, यह कितना अमानवीय और अराष्ट्रीय है। —और कि इस उद्देश्यहीन मार काट से राष्ट्र और समाज की कितनी बडी क्षति हो रही है। — संवेदनशील लोगों के हृदय कैसे विदीर्ण हो रहे हैं। हिंसा का जवाब प्रतिहिंसा नहीं। प्रतिहिंसा की जगह प्रेम उपजे, तभी आतंकवाद की समस्या हल होनी है।

ऊपरी तौर पर देखिये, तो वक्तव्य अपने मे पूरा, लेकिन गहराई मे जाइये, तो आधा सच है, क्योंकि इसमे कुछ ऐसी ध्वनि है कि आतंकवाद सिर्फ आतंकवादियों के छोर पर है, सरकार के छोर पर नही। इस तथ्य से विष्णु जी भी अवगत हैं कि कदाचित् 'दूरदर्शन' का माध्यम खालिस्तानी आतंकवादियो के हाथो मे होता, तो वो भी खुद के कारनामो को तो धर्मयुद्ध और सिख अस्मिता की सुरक्षा का दर्जा देते — भारत सरकार के बारे मे बताते कि वह पुलिस तथा फौजी आतंकवाद मचाये हुए है। — यानी वो भी वास्तविकता का सिर्फ एक ही छोर सामने रखते, क्योंकि झूठ उसकी नियति है, जिसका चरित्र दोमुहा हो। लेकिन सवाल यहा भारत जैसे विशाल देश की केन्द्रीय सरकार के चरित्र का है।

जब तक यह न बताया जाए कि आतंकवाद के बुनियादी कारण क्या हैं उसकी वास्तविक जड़ें कहाँ हैं और कि इन्हें निर्मूल कैसे किया जा सकता है, तब तक सिर्फ इतना बताने से क्या होगा कि आतंकवाद से पूरे देश को खतरा है? इतना तो हम नितात सामान्य बुद्धि के लोग भी बिल्कुल देख और समझ रहे हैं कि आतंकवाद कैसे हमारे राष्ट्रीय और सामाजिक जीवन में जहर घोल रहा है। आतंकवाद अमानवीय है और इसकी बर्बरता न जाने कितने घरो मे सन्नाटा कायम कर चुकी, यह सब भी धूप की तरह उजागर है। — लेकिन यह बात अभी भी पूरी तरह साफ नहीं कि आतंकवाद की बुनियाद कहाँ है। और कि इसमें कितनी भूमिका अमेरिका ब्रिटेन-पाकिस्तान

मे पालथी मारे भारत को तोडने की साजिश मे लगे तत्वो की है —और कितनी खुद धम, जाति और राजनीति की तीन पत्ती का खेल खेलने वाली भारत सरकार की ? यह सब स्पष्ट हुए बिना कैसे इससे छुटकारा पाया जा सकता है ?

विष्णु जी नही जानते, ऐसी बात नही। सोच विचार के झरोखे खुले रखने वाला प्रत्येक व्यक्ति जानता है कि वास्तविकता क्या है और इसके निदान की शर्तें क्या हैं। देश और समाज के सवालो मे रुचि, और ऐसी चिंता, रखने वाले किसी सामान्य व्यक्ति से बातें करके देखिये, जिसके कि कुछ खुद के पूवग्रह न हो। वह उस सारी हकीकत को बयान कर देगा, जिसे छिपाते छिपाते सरकार की हथेलियो मे गड्ढे पड गये हैं। सवाल सिफ तथ्यो को राष्ट्रीय —सामाजिक सन्दर्भों से जोडकर, सकट के दोनो छोरो को गोचर बना देने का है, जिसमें विष्णु जी पूरी तरह सक्षम है। जरूरत उनसे राष्ट्रहित मे पूरा बयान माँगने और उसे ज्यो-का त्यो हमारे सामने रखने की थी। सरकार ने ऐसा नही किया। उसने सिफ खुद के मतलब भर का सामने रखा। अगर विष्णु जी ने कहा होता कि दोषी सिफ आतकवादी हैं, सरकार तो आतकवाद के निदान मे पूरी ईमानदारी से जुटी है, उसके आचरण मे कही कोई गडबड नही, तो दूरदशन, दूसरी खबरो में कुछ कटौती करके भी, इस बात को जरूर प्रसारित करता। स्पष्ट है कि विष्णु जी ने नहीं कहा कि समस्या का सिफ एक छोर है और सरकार इस मामले मे कतई दोषी नहीं। लेकिन मतलब भर का प्रसारित करके सरकार ने दिखाया यही कि विष्णु जी जसे मूर्द्धन्य साहित्यकार भी मानते हैं कि ज्यादती सरकारी छोर पर कही नही है। और कि सरकारी आतकवाद का मतलब आतकवाद नही, बल्कि राष्ट्रीय अखण्डता होता है!

हमे शिकायत इसलिए हुई कि राष्ट्र के मूद्ध य वाणीपुत्रो का बयान आधा अधूरा और प्रसग से कटा प्रसारित हो, इससे कहीं

अच्छा हो कि ये चुप रहें। क्योंकि हमारे लेखे लेखक के मुख के किसी छोटे से कोने का खुलकर बन्द हो जाना ठीक नहीं। हम तो यही मानते चले हैं कि आदमी और समाज की बिलकुल भीतरी झिलमिल को भी अगर कोई आर से पार तक मूर्त कर सकता है, तो वही, क्योंकि सचाइयों को समाज की छाती से कान सटाकर सुनने की जितनी गहरी जरूरत उसे हुआ करती है, किसी और को नहीं। उसका सारा ताम झाम ही श्रुति पर टिका है। हमसे सुनकर ही तो लिखता आया है वह, हमारे जीवन के तमाम स्पदनों को ! और इतनी प्रामाणिकता के साथ कि जाने कितनी बार हम चकित कर डाला है, इस बात से कि हमारा दुःख सुख, राग विराग और लड़ाई झगड़ा हमसे बेहतर उसने कैसे सुन लिया ? ऐसे में, उसके मुह को चिड़िया की चोंच से भी कम खुलते देखकर, हम नहीं, तो क्या उन लोगों को खटका लगेगा, जो फिल्मी किस्सों के भोंडे जि दा डा स दिखाने के लिए तो रोज मनचाहा समय निकाल सकते हैं लेकिन विष्णु जी सरीखे मनीषी जनों को दस पाँच मिनट भी नहीं दे सकते कि वो राष्ट्रीय सकट के प्रसग पर पूरी बात बता सकें ?

एक अंश समाचार में, पूरा वक्तव्य अलग से प्रसारित होता, तब शका की गुजाइश नहीं होती। ऐसा न होने से सवाल स्वाभाविक है कि *क्या विष्णु जी ने सचमुच इतना ही बताना चाहा था, जितना कि* आज कोई अधा-बहरा भी बता सकता है ? सवाल आदमी का बुनियादी हक है। अगर यह हक उसे नहीं, तो बाकी सारे हक मिट्टी हैं। लोकतन्त्र की हजार खामियों के बाद की नियामत यही है—सवाल करने का हक ! इस हक के खत्म होते ही लोकत न्त्र भी खत्म हो जाता है। फिलहाल विष्णु जी से हम सिर्फ इतना ही सवाल करना चाहेंगे कि उन्होंने सरकार को यह मौका क्यों दिया कि वह उन्हें दस पाँच सेकण्ड खुद के पण्डे की शक्ल में प्रस्तुत करके, तुरत वस्ता समेट ले ?

अब फिर कहना चाहेंगे कि हर वस्तु के दो छोर हैं और आदमी

का धम है कि मुह खोले, तो दोनो छोर सामने रखने के इरादे में ही। इस इरादे के बिना उसकी कैसी भी विद्वता, सदाशयता, वाक्‌सिद्धि का कोई मतलब नही। एक छोर अधेरे में है, तो दूसरे के उजाले मे होने की कोई प्रासगिकता नही। तुरताफुरती मे एक ही छोर देखें, तो रावण भी महाज्ञानी है और राम करुणा से दूर। अगर कोई कहे कि उसे तो अभी सिर्फ एक ही छोर पता है, तो पूछना जरूरी होगा कि इतना ही बताने की ऐसी जरूरत क्या आ पड़ी?

सरकार और खालिस्तानवादियो के मामले मे वास्तविकता यह है कि दोनो मुखौटा लगाये हैं। दोनो का माधन झूठ है। सरकार *अपना रूप आतकवाद मिटाने को कृतसकल्प करुणानिधान का दिखा*ना चाहती है और गाधी बुद्ध-ईसा की अहिंसा की दुहाइ देते नही थकती। जबकि सरकार से ज्यादा किसे पता है कि आतकवाद खुद उसकी बोयी-गोडी निराई फसल के सिवा कुछ नही। साम्प्रदायिकता और धर्मोन्माद के हुक्के इसी चौधरी के चौपाल म ज्यादा गुडगुडान रहे हैं। आज भी स्थिति क्या है? कस भी जघन्य हत्याकाड, डाक लूट, बलात्कार और जोर जुल्म आतकवाद नही, अगर इनसे सत्ता की दीवारो पर खरोंच नही पडती हो। आतकवादी तो सिर्फ वो ह, जो तख्त के पायो मे छेद करना चाहते हो। कौन नही जानता कि पजाब का जगल म की आग की तरह धू धू करता आतकवाद सत्ता के आतकवाद की ही समातर सृष्टि है और इसे पहले सत्ता के चरित्र मे से दूर होना है, तब बाहर। सरकार आतकवाद के पूरे देश मे पसरे सामाजिक आर्थिक कारणो पर नही जाना चाहती, क्योंकि इससे खुद की पोल उघडती है। वह इस रहस्य को जग जाहिर नहीं होने देना चाहती कि आतकवाद का हौवा सामान्य लोगो के जीवन सघर्षों को दबाने का एक हथियार बन चुका है।

जो देश को टुकडो मे बाँटना चाहते और इसी इरादे मे आतक

याद मचाये हैं, उनके विरुद्ध कठोर कार्यवाही जरूरी है। इन्हें बख्शना राष्ट्र को संकट में डालना है। लेकिन अपने पापकर्मों का औचित्य सिद्ध करने में सैन्य या पुलिस बलों का उपयोग सत्ता के आतंक की जमीन तैयार करता है और सत्ता के चरित्र में गिरावट आते ही उसके तमाम अंगों के नैतिक तन्तु जर्जर पड़ने शुरू हो जाते हैं। साम्प्रदायिक दंगों की आड़ में राजनीतिक-सामाजिक संकटों को किनारे रखने की कूटनीति आखिर देशवासियों को ही माँ बाप की नानी याद दिलायेगी—देश के दुश्मनों को नहीं!

आतंकवादियों की जमात एक नहीं। एक तरफ सरकारी संरक्षण प्राप्त आतंकवाद है, दूसरी तरफ सरकारविरोधी! इतना जरूर कि सरकारी संरक्षण प्राप्त आतंकवादियों की गतिविधियाँ समाज की लूट-खसोट तक सीमित हैं, लेकिन सरकारविरोधी आतंकवादियों की टोलियाँ खालिस्तान-गोरखालैंड की सरहदें टटोल रही हैं। इनमें भी फर्क है। एक तरफ 'ब्लूस्टार आपरेशन' और दिल्ली-जमशेदपुर कानपुर के कत्लेआमों से संतुलन खो बैठे लोग हैं, दूसरी तरफ खालिस्तान के मंसूबेदार! इन दोनों से समान बर्ताव ठीक नहीं। पहलों की वेदना सुनने, उन्हें भरोसा बँधाने और उनके सुलगते घावों पर संवेदना का शीतल मलहम लगाना जरूरी है और जिन्हें खालिस्तान चाहिये, खालिस्तान के सिवा कुछ नहीं चाहिये, उनसे पूरी सख्ती से निबटना! जिन पेशेवर आतंकवादियों का मुखौटा 'ब्लूस्टार आपरेशन' और दिल्ली जमशेदपुर, कानपुर के कत्लेआमों का बदला लेने वाले शहीदी जत्थों का है, लेकिन इरादा खालिस्तान का, उन्हें कुचलना जरूरी है। जिन्हें कोई फिक्र नहीं कि इनके काले कारनामों से खुद सिख समाज की कितनी क्षति हो रही है। देखें तो सिख समाज की साख को सबसे ज्यादा इन पेशेवर आतंकवादियों ने ही नष्ट किया है। इन्हें यह भी चेत नहीं कि खालिस्तान की बात करना ही सरकारी दमनचक्र को नैतिक आधार देना है।

पंजाब के आतंकवाद से निबटने का एक ही रास्ता है—हिन्दू-सिखों की अटूट एकता और इसी पर चारों तरफ से चोट पड़ रही है। इस पुल के टूटने पर ही देश टूटेगा। खालिस्तानवादी-उग्रपंथियों की कैसी भी उत्तेजक कार्यवाहियों के जवाब में साम्प्रदायिक एकता के बाँध में कोई दरार नहीं आने देना, रास्ता इसके सिवा कोई नहीं। सवाल सिर्फ व्यवहार का है और इसके लिए जरूरत है, सच्चाई की। विष्णु प्रभाकर जी जैसे वृद्ध व साहित्यकारों को पूरी बात कहने से रोकना, सच्चाई का रास्ता बन्द करना है।

थोड़े में कहें, तो सच्चाई पर पाबंदी लगाना ही लोकतन्त्र के रास्ते बन्द करना है। लोकतन्त्र सवालों का तन्त्र है और झूठे जवाबों की एक हद होती है और इस हद से आगे अनहद नहीं, तानाशाही के कपाट खुलते हैं। क्या हम उम्मीद करें कि भारत सरकार दूरदर्शन पर विष्णु जी जैसे साहित्यकारों के पूरे वक्तव्य सामने आने देगी—खुद अपने ही हक में?

● ●

झूठों की नैया

मनचाहा राष्ट्रपति मिल गए होने के आनन्द में प्रधानमंत्री ने एक बात काफी हद तक सच कह दी। अपने एक दूरदर्शनी प्रवचन में प्रधानमंत्री ने पूरे उत्साह और संकल्प में कहा कि वो देखेंगे कि कैसे देश को गांधीजी के रास्ते पर (और भारत ही नहीं, बल्कि दुनिया भर के गरीबों को उनके मौजूदा हालत से आगे) ले जाया जा सकता है! शायद, पहली बार दो-टूक कहा उन्होंने कि देश को आर्थिक आजादी नहीं मिली है। आश्चर्य कि इस प्रसंग में उन्होंने पण्डित नेहरू या श्रीमती गांधी नहीं, सिर्फ महात्मा गांधी का नाम लिया!

जाहिर है कि प्रधानमंत्री ने हमें जताना और भरोसा बंधाना चाहा कि देश को राजनैतिक आजादी दिलाने में जो भूमिका मोहनदास करमचन्द गांधी की थी आर्थिक आजादी दिलाने में राजीव गांधी की होगी!—यानी कि जिस सम्पूर्ण स्वाधीनता का हम सपना ही देखते रह गये, उसके पूरा होने की घड़ी (इक्कीसवीं सदी) नजदीक आती जा रही है! —हालांकि प्रधानमंत्री के 'हम देखेंगे' में एक चेतावनी यह जरूर छिपी मालूम पड़ती है कि आर्थिक आजादी के सपने को पूरा होते देखने के लिए जरूरी होगा कि [illegible] भी हमें इक्कीसवीं सदी में

भी वही दिखाई पड़ें, जहाँ आज हैं। यो विनोद मे हम कह सकते हैं कि इसका मतलब तो हुआ कि देश और हम तो आगे निकल चुके होगे, लेकिन प्रधानमन्त्री पिछड़े रह जायेंगे। —लेकिन असली सवाल यह नहीं। असली सवाल है यह कि जब आर्थिक आजादी नहीं मिली होने की हकीकत से इकार नही, तो यह दावा क्यो है कि राजनैतिक आजादी मिली।

पद की ऊँचाई के कारण प्रधानमन्त्री हमसे बहुत ज्यादा देखते हैं और हर बात को देखते हैं, माँ बाप की नानी तक को, मगर इतना तो हम भी जरूर देखेंगे कि कि क्या यह अजूबा सचमुच सम्भव है? क्या आजादी के सचमुच अलग अलग हिस्स होते है केंचुए के टुकडो की तरह? आर्थिक आजादी नही भी हो, तो राजनतिक आजादी मौजूद हो सकती है, राजनैतिक नही हो, तो आर्थिक आजादी? ऐस ही सास्कृतिक, सामाजिक, वैज्ञानिक, वैचारिक, ऐतिहासिक और भौगोलिक आजादिया म से कोई एक। जबकि केंचुए के टुकडो को केंचुआ नही, उसके टुकडे ही माना जाता है? तो क्या प्रधानमन्त्री अपनी अपार खुशियों की घडी मे सचमुच इस सच्चाई को स्वीकार करने की पहल करना चाहते हैं कि हमे आजादी नही, बल्कि उसका केंचुए क टुकडो की तरह का एक टुकडा भर मिला है? और इसीलिए बनी हुई है आज भी हमारी मानसिकता टुकडखोरो की? भाषा, शिक्षा सस्कृति, विज्ञान, प्रौद्योगिकी सामाजिक-आर्थिक नीति नियोजन और प्रशासनिक ढाचा—किसमे टुकडाखोर नही हैं हम?

सदियो की गुलामी के कारण विज्ञान और प्रौद्योगिकी मे स्वाधीन देशो के समकक्ष आन म वक्त लगना स्वाभाविक था, क्योकि साम्राज्यवाद म उपनिवेशों को ज्ञान विज्ञान का भी 'उपक्षेत्र' ही रखा जाता है, लेकिन क्या उन क्षेत्रो म हमने एक स्वाधीन देश के अनुकूल स्वतन्त्र

नोनियाँ बनाई, जहाँ कि ऐसा बिलकुल सम्भव था ? मसलन भाषा, शिक्षा, सामाजिक आर्थिक नीति नियोजन और प्रशासनिक ढाँचे म कहीं भलक दिखाई पडती है कि हमें स्वाधीन हुए चार दशक बीत गये ? —जबकि इन्हीं चार दशको मे परमाणु बमो की मार से ध्वस्त छोटा-सा मुल्क जापान कहा का-कहा पहुँच गया इजराइल तुर्की-जन बित्ता भर के मुल्को ने अपनी स्वतन्त्र भाषा, शिक्षा और प्रशासनिक व्यवस्था खडी कर ली—लेकिन महादेश भारत आज भी हर क्षेत्र म अंग्रेज आकाओ की नकल म मस्त है ! - और हमारे वतमान प्रधान-मन्त्री जी हमे समझा रहे हैं कि राजनैतिक आजादी मोहनदास कमचंद गाधी दे गया था, आर्थिक आजादी ये पकडाने जा रहे हैं ! भारत-जसे महादेश के प्रधानमन्त्री को अगर इतना भी पता नहीं हो कि आजादी किस चिडिया का नाम है तो इसे पूरे राष्ट्र के लिए एक गमनाक हादसे के सिवा और क्या कहा जा सकता है ।

नाम जरूर लिया उन्होने, लेकिन जरा यह भी देख लेते कि मोहन-दास कमचन्द गाधी राष्ट्र की भाषा के बिना आजादी को अधूरा मानते थे, तो इसकी वजह थी । तक बिलकुल दिया जा सकता है कि जब भागते भूत की लँगोटी से भी सतोष करने का मुहावरा मौजूद है तो भागते गोरो से अधूरी आजादी पा जाने मे क्या बुरा रहा ? लेकिन पहली बात यह कि भारत ब्रिटिश साम्राज्यवाद के भूत की लुगी नहीं था कि दो टुकडो म चीरकर एक हमे थमा दिया गया, तो 'जय हे जय हे !' गाने के सिवा और कुछ सोचने विचारने की जरूरत ही नहीं रही । दूसरे अधूरी आजादी लेने और पूरी स्वाधीनता को ठोकर मार कर, अधूरी आजादी को कबूल करने मे फक है ! इससे भी आगे, हमने न सिफ यह कि अधूरी आजादी को स्वीकार किया बल्कि पिछले चालीस साल इसे अधूरा ही रखने मे खपा दिये । अब यह आधी अधूरी भी घपले मे है।

प्रधानमन्त्री का तक था कि जो देख रहे हैं कि विकसित देश गरीब

मुल्कों को आर्थिक गुलामी मे जकड़े हैं। हम पूछना चाहते हैं कि उन्हें सिक्के का एक ही पहलू क्यों दिखाई दे रहा है? जब आर्थिक आजादी न होने की सच्चाई उन्हें स्वीकार है, तब राजनैतिक आजादी के भी नहीं होने से इन्कार क्यों? सब इस सच से परहेज क्यो कि हम आर्थिक ही नही, बल्कि राजनैतिक स्तर पर भी विकसित देशो की गुलामी ही ढो रहे हैं? इसलिये नही कि कोई और रास्ता नहीं, बल्कि इस पूरे इरादे से कि देश की राजनैतिक आजादी उसकी आर्थिक आजादी से अलग चीज नहीं। प्रधानमन्त्री जिस राजनैतिक प्रतिष्ठान के नुमाइन्दे हैं, उसके ठेकेदारो को इतना बिल्कुल पता है कि देश के राजनैतिक स्तर पर आजाद होते ही उनका आर्थिक साम्राज्य और प्रभुसत्ता का किला भी मिट्टी मे मिल जायेगा। क्या प्रधानमन्त्री महोदय को सच मुच पता नहीं कि जब भी कोई देश स्वाधीन होता है राजनैतिक स्तर पर आजाद होकर, आर्थिक तौर पर हवा मे नही लटक जाता। कोई भी या तो स्वाधीन होता है, या गुलाम। अलबत्ता कुछ बाधाएँ या कुछ सहूलियतें होने की बात जरूर की जा सकती है, लेकिन कुछ बाधाएं होने से न तो स्वाधीन गुलाम बन जाता है और न कुछ सहूलियतें होने से गुलाम स्वतन्त्र।

गरीब मुल्क होने का मतलब गुलाम मुल्क होना नहीं होता। अमीरी स्वाधीनता की गारण्टी नही। न गरीबी गुलामी का पर्याय है। जो चरित्र, वही चरितार्थ मे गुलाम होते हैं। प्रधानमन्त्री इस दुखती रग पर हाथ नहीं रखना चाहते कि हमारा चरित्र क्या है, क्योंकि इसी से जुड़ा है उनके खुद के चरित्र का सवाल भी। वो क्या हमें बतायेंगे कि आर्थिक आजादी न होने की वजह क्या है? कौन जिम्मेदार है इसके लिए? देश की गरीबी या व्यवस्था का साम्राज्यवादी चरित्र? भारत जैसे अकूत ससाधनों वाले देश मे अमीरी के ठाठ उत्पन्न कर रहे 'मल्टीनेशनल्स' की अपरिहार्यता गरीब मुल्क मे क्यो? अपने ससाधनों और जरूरतो के हिसाब से आर्थिक नियोजन से कौन

रोक रहा है हमें ? एक तरफ भारत ही नहीं, दुनिया भर के गरीबों के उद्धार की हातिमताई ललतरानियाँ—दूसरी तरफ अंग्रेजी के ऐसे मठों के प्रसार पर ब्रिटिश हुक्मरानों से भी ज्यादा जोर, जो देश की कम से कम पिचानवे प्रतिशत जनता को अंधेरे में रख सकें—इस दोमुंहे चरित्र के लिए कौन बाध्य कर रहा है, हमारे गरीबपरवर प्रधानमंत्री को ? देश की गरीब जनता, या कि देश को बेच खाने पर तुले पूंजीपतियों का आर्थिक, राजनैतिक मायाजाल ? पाकिस्तान लंका के माँ बाप अमरिका को उसकी नानी याद करा देने की ताकत जिसके फौलादी हाथों में हो, वही महाशक्तिमान 'सुपरमैन' क्यों रोता फिरे कि अमरिका हमारी आर्थिक आजादी कांटे में फसाये बैठा है ? और क्या सिर्फ आर्थिक ही ? राजनैतिक आजादी को नहीं ? प्रधानमंत्री देंगे कोई उदाहरण किसी ऐसे व्यक्ति, समाज या देश का, जो राजनैतिक स्तर पर तो आजाद हो, लेकिन आर्थिक तौर पर गुलाम ?

साफ है कि प्रधानमंत्री हिंद महासागर में झूठ की नैया चला रहे हैं। देखने वाले जरूर देखेंगे कि यह दोमुंही नाव कहां तक टिकती है, लेकिन इतना तो हम अभी भी देख रहे हैं कि जब तब देश की राजनीति में यह नैया चल रही है भारत क्या, हिंद महासागर की भी खैर नहीं !

राजनैतिक आजादी और आर्थिक आजादी ये एक ही सिक्के के दो पहलू हैं। इनमें से एक ही पहलू का चलाना खोटा सिक्का यानी झूठ चलाना है। जहां डंके की चोट पर सफेद झूठ चलाया जा सकता है, उस मुल्क की आजादी को सिवा इसके क्या कहें कि—नैया चली जाय रे, सफेद झूठों की नैया, चली जाय रे।

• •

लोकतन्त्र के दरबार

१९४७ को सिर्फ ब्रिटिश साम्राज्यवाद नहीं, बल्कि सदियों लम्बी मानसिक वैचारिक दासता से भी मुक्ति का वर्ष कहा गया था। पण्डित जवाहरलाल नेहरू के कथनानुसार भारतीय जनता की सम्प्रभुता का वर्ष! सिर्फ राजतन्त्र नहीं, लोक की सम्प्रभुता का वर्ष!

कांग्रेस का सबसे पहला, और सबसे मुख्य दावा था—देश को लोकतन्त्र दे रहे होने का। यानी राजशाही की जगह, लोकशाही। राज्य की निरंकुशता की जगह, सामान्य जनता की सम्प्रभुता। गोराशाही और लाटसाहबों के दमनचक्र तथा दासता की फटकारों से मुक्ति, यानी साम्राज्यवाद का अन्त, समाजवाद का अभ्युदय!

स्वाधीनता के अरुणोदय के उस दौर में जनता को ही सर्वोच्च सत्ता माना गया। अफसरशाही ही नहीं, बल्कि सैन्य-पुलिसबलों पर भी जनप्रतिनिधियों का वर्चस्व घोषित हुआ। जिसे जनता के संविधान का युग करार दिया गया, यानी माना गया कि सारे विधि विधान जनता की सम्प्रभुता को केन्द्र में रखकर तय होंगे, और राज्य की भूमिका जनता के लिए, जनता के द्वारा, जनता की आकांक्षाओं का प्रशासन देने की होगी, देश की जनता पर

वर्गीय सवारी गांठने की नहीं। जनहित के प्रत्येक सवाल के प्रति 'कल्याणकारी राज्य' की विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका की त्रिवेणी सतत जागरूक और कार्यशील रहेगी। थोड़े शब्दों में, जनता अपने प्रतिनिधि स्वयं चुनेगी। तब माना गया कि प्रभुसत्ताधर के तैयारशुदा (रेडीमेड) हाकिम हुक्कामों का इस देश में अब कोई वजूद नहीं रहा। बादशाहों, हुजूरों और मीरासों का जमाना लद गया। अब भारत के सामान्य जन मालिकों की मर्जी के मोहताज नहीं रहे। उनकी स्थिति अब 'भारत भाग्य विधायक' गणों की हो गयी। भारत की जनता के लिए सुबह सुबह 'यशस्वी रहें, हे प्रभो हे मुरारे, चिरंजीव राजा व रानी हमारे!' प्रार्थना गा गाकर अपने सात समुन्दर पार के आकाओं का दीन हीन गुलाम होने का सबूत देने का शर्मनाक दौर खत्म हुआ और 'जय हे, जय हे, जय हे!' के तुमुल नाद-निनाद के साथ स्वयं की स्वाधीनता, स्वायत्तता और सम्प्रभुता का तिरंगा फहराने का स्वर्णयुग प्रारम्भ! भारत में ब्रिटिश साम्राज्य का अन्त हुआ—विश्व के सबसे बड़े और महान गणतन्त्र का अभ्युदय!

स्पष्ट है कि यह कोई सामान्य परिवर्तन नहीं था। भारत का यह अपूर्व स्वाधीनता आन्दोलन ब्रिटिश सम्राट साम्राज्ञी के विरुद्ध दमी राजा महाराजाओं या शहंशाहों नवाबों का सत्ता संग्राम नहीं, बल्कि देश की सम्पूर्ण जनता के ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जंजीरें तोड़ फेंकने के अथक संघर्ष का प्रतीक था। स्वाधीनता के इस राष्ट्रव्यापी संघर्ष का ही परिणाम था कि कांग्रेसी नेता और आड़ में खड़े पूंजीपति दोनों मानसिक वैचारिक तौर पर राष्ट्रीय दबावों में थे। वो जानते थे कि इस समय सम्प्रभुतासम्पन्न लोकतन्त्रात्मक गणराज्य से कम की बात करना 'खोदा पहाड़, निकली चुहिया' साबित करना होगा और जो जनाक्रोश ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध उमड़ा, इसके स्वदेशी प्रभुओं की तरफ रुख करने के नतीजे हक में नहीं होंगे।

इसीलिये 'धीमे धीमे, र मना, धीमे सब कुछ होय'' की तर्ज मे ब्रिटिश साम्राज्यवाद के औपनिवेशिक चरित्र का देशी सस्करण प्रकट करने मे चार दशक लगा दिये गये। धीरे-धीरे लोकतत्रात्मक गणराज्य और जनता की सम्प्रभुता क ढपोरशखी उद्घोष तथा आलेख चरित्र की जगह, लबादे की शक्ल लेते गये और आज परिणाम सामने है।

विदेशी की जगह, स्वदेशी प्रभुओ की ठोकरो के हवाले हो रहने की यह त्रासदी देश के करोडो करोड सामान्यजनो की स्वाधीनता स्वाभिमान और सामाजिक अस्मिता को कैसे मिट्टी म मिलाती गई है, इसके उदाहरण के लिए फिलहाल हम यहाँ सिफ एक ही दृश्य उपस्थित करना पर्याप्त समझेंगे।

अभी कुछ समय पहले जिलाधिकारी महोदय के दरबार म हाजिरी लगाने की जरूरत हुई तो लगा कि शब्द को अथ के विपरीत चलाना सिवा धोखाधडी के कुछ नही। लोकतात्रिक चेतना का चरित्र की जगह खाल पर जोर देने तक सीमित हो जाय, तो इसका दुष्परिणाम क्या हो सकता है जिलाधीश' की जगह 'जिलाधिकारी' शब्द का प्रयोग इसका एक ज्वल त सबूत है। लगभग दो घण्टे की हाजिरी मे देखा कि आस पास, दूर दराज के गावो, कस्बो के लोग झुण्ड के झुण्ड दरबार मे उपस्थित हो रहे हैं और जसे ही अपने रहनुमा विधायक या अ य किसी तत्सम नेता के साथ जिलाधीश महोदय के सामने पहुँचते हैं, इस महान् देश के महान् लोकतत्रात्मक गणराज्य का यह 'अवमि देखिए, देखन जोगू' वाला परिदश्य शुरू हो जाता है। सम्प्रभुतासम्पन्न जन गण 'माई बाप, गरीबपरवर, हुजूर मालिक' जैसे गणतत्रात्मक सम्बोधनो के साथ अपना दुखडा सुनाते और बीच बीच मे 'मिहरबानी किया जाय, हुजूर! रहम करें, मालिक!' की टेक लगाते चरणो मे माथा नवाते जाते हैं और मालिक, गरीबपरवर तथा हुजूर जिलाधीश महोदय साम तो, मौलाओं

और राजा नवाबों की सी मुद्रा में भारत के दीन हीन जनगणों की लिजलिजी फरियादें सुन रहे होते हैं।

यह दृश्य कहीं एक जगह नहीं, पूरे राष्ट्र म व्याप्त है। स्पष्ट है कि जिलाधिकारी मात्र अधिकारी नहीं। उसकी स्थिति अपने ऊपर के सत्ताधीशों के लिये चाहे जो हो, लेकिन सामान्य जनता के लिए जिलाधीश ही है। यह जिलाधीश का सिलसिला ही भारताधीश अधिनायकों तक जाता है।

इधर भेड़ों क झुण्डों की शक्ल में अपने अपने जनप्रतिनिधियों, अर्थात गडरियों के साथ दरबार में उपस्थित हुए जन गण अपने पहनावे, हाल चाल और शक्ल सूरत में भी ठीक वही हैं, जो भाषा में। उनकी दीनता और दयनीयता भूषा और भाषा, दोनों से टप टप टपक रही है। उधर लोकसेवक जिलाधिकारी महोदय का रुतबा इससे बिलकुल अलग है। देश की फटेहाल सम्प्रभुता 'हुजूर, माई बाप गिडगिडा रही है और फटीचर जनता के सेवक जिलाधीश महोदय 'सवसमर्थप्रभु' की तरह देखेंगे हम आपकी क्या सहायता कर सकते हैं। आखिर हम ही तो देखना है।' के आश्वासन थमाते हुए भेडों को तुरताफुरती म काठी स बाहर करवाते गडेरियों से वार्ता म व्यस्त हो जा रहे हैं। उनके व्यक्तित्व और भाषा, दोनों म प्रभुता का आभा है। उन्हे इतना कहने की जरूरत बिलकुल अनुभव नहीं हो रही कि — यहा कोई राजा या नवाब साहब का दरबार नहीं लगा है। आप लोग मेरे कोई गुलाम, आसामी या भिखमंगे नहीं एक सम्प्रभुतासम्पन्न लोकतन्त्र के स्वाधीन नागरिक हैं। आप लोगो का इस तरह की दयनीय और दबी सहमी भाषा म बोलना पूरे राष्ट्र के लिए शर्मनाक है। मेरी हैसियत सिवा एक ऐसे प्रशासनिक अधिकारी के और कुछ नहीं जिसकी यही जिम्मेदारी है कि आप लोगो की समस्याओं को हल करें। मेरे प्रति आप लोगों के 'माई-बाप, हुजूर या गरीबपरवर जैसे दीनता और दासता में लिपटे सम्बोधन

निहायत ही शमनाक और दुखद हैं।'

स्पष्ट है कि किसी जिलाधीश को यह सब कहने की कोई जरूरत नही है। पूरा देश कालाशाही के जिम्मे है। देश की जनता लोकतात्रिकता का लबादा ओढे राजनैतिक भेडियो के हवाले है जिनकी निरकुश सत्ता देश की अधिसख्य जनता की सवेदना स्वरित, सामाजिक जागरूकता राजनतिक चेतना को चाटने पर ही टिकी है। जिन्होने अपनी राजशाही का अफसरशाही से ऐसा राष्ट्रघाती गॉठ जोड कर लिया है कि सामान्य जनता ब्रिटिश साम्राज्यवाद के दौर स भी ज्यादा दीन हीन हो चुकी है। उसमे एक स्वाधीन राष्ट्र का नागरिक होने की आभा पूरी तरह नदारद है। उसकी अस्मिता और आत्मा उसके फटे पुचडे कपडो से भी ज्यादा चीथडा हो चुकी हैं। उसे स्वाधीनता आज भी पुराणो की वस्तु है। उसमे अपनी दुदशा के सवाल उठाने की चेतना शून्य हो चुकी है। उसे अपने वोट के बदले मे मिलने वाली बोतलो और कम्बलो की कीमत ही बहुत है। उसमे इतना दम ही नही कि पूछ सके कि जनता की सम्प्रभुता के दावे वाले सविधान को महाप्रभुओ की भाषा म तैयार क्यो किया गया है? राष्ट्र का मुखौटा लगाये देश मे एक भी राष्ट्रीय नीति आखिर क्यो नही बनायी गयी? महाप्रभुओं के लिए दून शेरवुड सेंट स्टीफनो का इतजाम करके, हमे टाट पट्टियो का मोहताज क्यो रखा और ऐसी आतककारी अफसरशाही के हवाले क्यो कर दिया गया है, जिसे 'हुजूर, माई बाप' पुकारते हुए हमारे घुटने काप रह जाते हैं? क्योंकि इतना हम बखूबी जानते है कि हमारा सारा सुख चैन इनकी कृपा पर टिका है। इन लोकतत्र का दरबार सजाये बैठे महामहिमो की कृपा पर!

बहरहाल यहाँ हम विश्व का विशालतम लोकतन्त्र होने के दावेदार भारत की सवैधानिक प्रतिज्ञा उद्धृत कर रहे हैं। यह प्रतिज्ञा इस

प्रकार है—

'हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतंत्रात्मक, धर्मनिरपेक्ष, समाजवादी गणराज्य बनाने के लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धर्म और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सबमे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाली बन्धुता बढाने के लिए, दृढ सकल्प होकर अपनी इस सविधान सभा मे आज तारीख २७ नवम्बर, १९४६ ई० को एतद्द्वारा, इस सविधान को अगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करते हैं।'

यह वर्ष १९८७, यानी स्वाधीनता के चार दशको के बाद का वर्ष है। इस वर्ष की भारतीय जनता का हुलिया जरा उपरोक्त प्रतिज्ञा से मिलाकर देख लिया जाय और तब हमे बताया जाय कि जिनके आस पास ही नही, बल्कि चरित्र मे भी दीनता और दयनीयता की मक्खियां भिनभिना रही हैं—जो लोकतन्त्र के दरबार मे आज भी 'हुजूर माई बाप' ही गिडगिडाने को बाध्य हैं – और कि जिनके भाग्य आज भी विधाता प्रभुओ की ठोकरो के ही मोहताज हैं – इन करोडो करोड गुलामो की स्वाधीनता का वर्ष कब आयेगा ?

● ●

हमारे माननीय विधायक

पिछले कुछ अरसे में बंधुआ मुक्ति आंदोलन की चर्चा बहुत रही है। 'गरीबी हटाओ' नौटंकी का एक शानदार करिश्मा रहा है— बंधुआ मजदूरों की मुक्ति का नाटक! आज भी स्थिति यही है— 'शांतता नाटक चालू आहे!' लेकिन इसी बीच प्रदेश के मुख्यमंत्री महोदय का एक लोकतांत्रिक बहादुरी से भरा जो बयान 'इण्डिया टुडे' में देखने को मिला उसने बंधुआ समस्या को एक क्रांतिकारी मोड़ दिया है। बयान इस प्रकार है—

देखिये आजकल विधायकी बहुत आराम की चीज है (हँसते हैं) प्रति महीने चार हजार रुपये सारी सुविधाएं और हवाई यात्रा। अगर मैं पार्टीविरोधी गतिविधियों के लिए उन्हें निकालने पर अड़ जाऊं, तो कोई भी ये सुविधाएँ गवाना नहीं चाहेगा। वे जानते हैं कि वी पी सिंह से उन्हें कोई राजनैतिक लाभ नहीं मिलेगा।'

क्या माननीय विधायकों को बताना जरूरी होगा कि इस बयान का मतलब क्या है? मुख्यमंत्री की विधायकों का डंके की चोट पर अपना बंधुआ घोषित करती वीरमुद्रा हमारे लोकतंत्र को किस शर्मनाक स्थिति की ओर इशारा कर रही है?

स्पष्ट है कि कैसा भी खुला मखौल उड़ाने के बावजूद अधिकांश विधायक प्रतिवाद में मुंह नहीं खोलेंगे इस पूरे इत्मीनान से ही मुख्यमंत्री महोदय ने ऐसा वक्तव्य दिया है जो सिर्फ विधायकों, स्वयं मुख्यमंत्री तथा प्रदेश की समूची जनता के लिए शर्मनाक ही नहीं, बल्कि लोकतंत्र के लिए खतरनाक है। जनता द्वारा निर्वाचित विधायकों को जनता की जगह सत्ता स्वार्थों से घिरा हुआ तथा चार हजार रुपये महीने वेतन और हवाई उड़ान प्रदान करने से समय व्यक्ति का बँधुआ गुलाम घोषित करना साफ बता रहा है कि सम्प्रभुता सम्पन्न गणतंत्र किस भयावह दुर्दशा को प्राप्त हो चुका है।

मुख्यमंत्री महोदय के बयान से साबित होता है कि प्रदेश के राज्यकोष पर उनका निजी स्वामित्व है। विधायकों को वेतन देना उनकी सनक पर निर्भर है। सत्ता के व्यक्ति में केंद्रीकरण की इस अलोकतांत्रिक प्रक्रिया ने ही लोकसभा और विधानसभाओं को चरित्र के बौने और व्यक्तित्वहीन लोगों की महासभाओं में बदल दिया है। मुख्यमंत्रियों की खुद की हैसियत एक सूबेदार से ज्यादा कुछ नहीं। वो विधायकों के बहुमत की जगह, आलाकमान की मर्जी के मोहताज हैं और इसीलिए उन्हें विधायकों का खुला मजाक उड़ाने में कोई बाधा नहीं। हमारे विधायकों में अगर जरा भी स्वयं की स्वाधीनता और गरिमा की चेतना होती और अपने को चुनने वाली जनता के सम्मान की चिंता, तो इसी बात पर मुख्यमंत्री के विरुद्ध बवाल मच गया होता और हवाई उड़ानों के प्रलोभन से विधायकों को सत्ता के खूंटे से बांधे रखने के दावेदार मुख्यमंत्री हवा में झूल रहे होते।

जब हम अपने निहायत ही शर्मनाक मखौल को भी चुपचाप पी जाने के आदी हो जायें, तो यह सबूत है कि बे-गैरत हो चुके। भाषा की फटकार कोड़ों की फटकार से भी तीखी होती है, लेकिन उन पर भाषा का कोई असर नहीं होता, जिनकी त्वचा मर चुकी हो। आदमी की त्वचा का खाल में बदलना उसका पशु से भी बदतर हो

जाता है। तब कसे भी सुलगते सवाल उसमे कोई चेतना नही जगा पाते। तब वह मानापमान के सारे सवालो से ऊपर हो जाता है। तब उसे आप सरआम राजनैतिक दलाल कहिये, तो भी वह सिर्फ इतना जानना चाहेगा कि कीमत कितनी मिलती है।

मुख्यमन्त्री इसी बात को यो भी कह सकते थे कि क्या विधायकों को इतना अवसरवादी समझा जा रहा है कि वे जिस तरफ राजनैतिक लाभ देखेंगे, उधर ही टूट पड़ेंगे? मुख्यमन्त्री दावा कर सकते थे कि चूकि हमारे विधायक किन्ही निजी स्वार्थों से नही, बल्कि लोकतन्त्र के मूल्यो, राष्ट्र की चिन्ता और प्रदेश की जनता के हित के सवालों से बँधे हुए हैं—चार हजार रुपये की रकम, बगलो की सुविधाओं या हवाई उडानो की अयत्राओं से नहीं, इसलिए प्रदेश मे काग्रेस की सत्ता के लिए कोई सकट नही है।

मुख्यमन्त्री ने नही कहा, तब यह हमारे विधायको की गहरी नैतिक जिम्मेदारी बनती थी। और बनती है कि वो यह सवाल उठते कि उनकी इस खुली अवमानना का जवाब मुख्यमन्त्री को हर हाल मे देना होगा कि सत्तापक्ष ही नही, विपक्ष के भी सारे विधायक खरीद की वस्तु हैं। इनकी जनता, लोकतन्त्र या संस्था के प्रति कोई प्रतिबद्धता नही। कि ये सब सिर्फ अपने अपने राजनैतिक लाभो और पैसे तथा हवाई उडानो से बँधे हैं। इस सवाल को नहीं उठाने का मतलब होता है, मुख्यमन्त्री ने जो कुछ कहा है सच ही कहा और सच के सिवा कुछ नही कहा है।

आदमी उसके सवालो से जाना जाता है। जो स्वयं की गरिमा, स्वाधीनता और चेतना के सवाल नहीं उठा पाता, वह देश, समाज और काल, तीनो के लिए बोझ बन जाता है। हित और स्वाधीनता के सवालो से उदासीन और जड व्यक्ति ही लोकतन्त्र की सबसे बड़ी बाधा है। जसे बकरी लेंडी छोड़ती है, ऐसे मतपेटी मे वोट डाल

आने वाले नागरिक ही लोकतंत्र को ले डूबते हैं, क्योंकि उसे बकरी को खुर की लेंडी से कोई सरोकार नहीं रहता कि उसका क्या उपयोग है—ठीक ऐसे ही जड नागरिक को वोट से ! इसी से पूरे देश मे ऐसी राजनतिक गदगी व्याप्त हुई है कि वोट के बदले मे बोतल या कम्बल थमाना वोट देने वाले पर कृपा करने के समान हो गया है। हम माननीय विधायक गण क्षमा करें, जो भी सवाल स यहा उठा रहे हैं, राष्ट्र और समाज के हित मे उठा रहे है। सवाल से बिदकना ठीक नही। कैसे भी तीखे सवालो मे कोई हर्ज नही, क्योंकि इनमे आज किनारा करें, कल फिर मुह-सामने खडे होते हैं।

सवाल डडे से नहीं, बल्कि बहस से हल किये जायेंगे, यही लोकतत्र का आधारभूत सिद्धात है। सवालो का युक्तिसगत जवाब, इसी पर लोकतत्र के सारे विधि विधान टिके होते हैं। लोकसभा और विधानसभाओ की प्रासगिकता ही इसम है कि वहा कसे और कितन ज्वलत सवाल उठाये जा रहे हैं। लेकिन जो जनता के सुख दुख शोषण उत्पीडन, हित अहित, उसकी जडता और चेतना, अपमान और गौरव तथा बाढ और सूखे के सवाल उठाने को विधानसभा मे पधारे थे, वो अपनी ही फजीहत और छीछालेदर के विरुद्ध मुह खोलने में असमर्थ हो, तो जनता के सवालों का क्या होगा ? हम यह बताया जाना कि देखो, जिसे तुम धूल धक्कड और धूप बरसात झेलकर भी इसलिये वोट देने दौडे थे कि यह तुम्हारे सवाल उठायगा, उसे सिवा पैसे, राजनैतिक लाभ और हवाई उडानों की अय्याशिया बटोरने के और कोई काम नही—हमारा ही नही, देश और लोकतत्र का भी मजाक उडाने के सिवा कुछ नहीं। यह प्रकारातर से, इस बात का भी सबूत है कि हमारा वोट देना सिवा जडता और मूखता के कुछ नही।

व्यक्ति हो कि राष्ट्र, स्वाधीनता, और गरिमा और प्रतिबद्धता के सवाल मखौल की सामग्री नहीं हुआ करते ? लेकिन दुर्भाग्यवश

आज की हकीकत यही है। इस जगत मे हर कोई बँधा है, क्योकि बिना बधन के आदमी नही चल सकता। किसी न किसी मूल्य, सकल्प, सम्बन्ध या स्वाथ से बँधकर ही आदमी अपनी यात्रा आगे बढाता है। जो किसी से नही बँधा, वह आदमी नही। देखने की बता सिफ इतनी इतनी है कि कौन किसस बँधा है। तप से बँधे और तस्करी से बँधे मे अतर है। समाज के कत०्यो से बँधे और सत्ता की कुर्सी से बँधे मे अतर है। प्रेम से बँधे और पाप से बँधे मे अ तर है। हम अपने माननीय विधायको से बिल्कुल सवाल करना चाहेगे कि आप कहाँ, किससे बँधे हुए हैं ?

• •

कैसा सवाद, किससे सवाद

इधर कई एक समाचार पत्रा मे पढने को मिला कि प्रधानमन्त्री ज्वल त राष्ट्रीय मुद्दो पर देश के बुद्धिजीवियो स (भी) सवाद चाहते हैं। यह 'भी' ही ज्यादा ध्यान अटकाने वाला है क्योकि इससे इतना तो साफ ध्वनित हो जाता है कि बाकी सबस तो बाकायदे है ही।

राज्यव्यवस्थाओ का इतिहास बताता है कि प्राय प्रत्येक शासक को किसी न किसी प्रसग मे, इस 'बुद्धिजीवी' नाम के वग की (भी) जरूरत पडती जरूर आई है। लोकतन्त्र म राजदरबार की गु जाइश नहीं। हालांकि कहने वाले तो यहा तक कह जाते हैं कि लोकसभा से बडा दरबार कहा। यहा के सवाद विवाद तो रावण विभीषण को भी चकरघिन्नी खिला दें। बहरहाल हम, फिर दोहराकर, इतना ही कहना चाहेंगे कि प्रत्यक शासक को कभी न कभी बुद्धिजीवियो से (भी) सवाद की जरूरत पडती जरूर है। श्रीमती गांधी भी कई बार बुद्धिजीवियो को स्मरण कर लिया करती थी। बुद्धिजीवियो से तात्पय विचारको की सी छवि वाले साहित्यकारो से भी हुआ करता है। हम यहां इसी वर्ग का कुछ जिक्र करेंगे अगर, अपनी माता जी की ही तज में, राजीव गांधी भी बुद्धिजीवियो म साहित्यकार किस्म के व्यक्तियों को

भी शामिल करते हो।

श्रीकांत वर्मा के नहीं रहने से हिंदी के बुद्धिजीवियों का प्रतिनिधित्व, लोकसभा में लगभग शून्य के स्तर पर पहुँच गया है। क्योंकि वहां जो प० नरेशचन्द्र चतुर्वेदी जी हैं, सो राजनीति में पंडित नेहरू और साहित्य में सनेही-युग के विशेषज्ञ हैं। और उधर बालकवि बैरागी का बौद्धिक स्तर अभी रेखा से काफी नीचे है। वैसे भी जब राजीव गांधी आह्वान कर रहे हैं, तो स्पष्ट है कि यह सत्ताकेन्द्र से बाहर के बुद्धिजीवियों को बुलावा है। क्योंकि सत्ता केन्द्र के बुद्धिजीवियों से तो उन्हें संवाद की जरूरत नहीं। इशारा काफी है।

'मान-न मान, हम तेरे मेहमान' के तर्क से हम खुद को भी बुद्धिजीवियों की कतार में शामिल कर लें, तो इसमें एतराज न किया जाए; क्योंकि पहली बात तो यह कि राजा जब संगीत की जरूरत जाहिर करे, तो इसका एक मतलब यह भी होता है कि उसे नींद आ रही है। दूसरे वह, ताज की ही तरह, खुद के कामकाज में भी नग जड़वाने का शौकीन होता है। ज्वलंत राष्ट्रीय मुद्दों पर देश के बुद्धिजीवियों से प्रधानमंत्री की वार्ता – यह भी एक शुद्ध जड़ाऊ नग है। देश के बुद्धिजीवियों की कुछ भी ज्यादा औकात न पण्डित नेहरू के दरबार में थी न श्रीमती गांधी के यहां रही और न राजीव गांधी के दरबार में होनी है। पूंजीवादी लोकतन्त्र के ढांचे में विवाद की चाहे जितनी हो, संवाद की कोई गुंजाइश नहीं होती, क्योंकि संवाद सिर्फ बराबर के साझीदारों के बीच ही सम्भव है। इसलिए पहला ही सवाल उपस्थित होगा यह कि प्रधानमंत्री देश के बुद्धिजीवियों की हैसियत क्या आंकते हैं? और इसके बाद प्रारम्भ होगा, राष्ट्रीय मुद्दों पर सवालों का एक ऐसा लम्बा सिलसिला, जिसे बिल्कुल सम्भव है कि प्रधानमंत्री यह घोषणा करते हुए एक ही झटके में तोड़ फेंकें कि—'हम देश के सारे बुद्धिजीवियों को उनके बापों की (भी) नानियां याद करा देंगे।'

क्योकि अक्सर पाया जाता है कि उनका गाधीवाद (भी) नादीनाद से कम फुफकार भरा नही होता।

जा व्यवस्था गैर बराबरी के सिद्धान्त पर टिकी और जिसने स्वय देश के बुद्धिजीवियो को ही असवाद मे पहुचा दिया हो, उसके प्रधानमन्त्री को अगर सवाद की जरूरत हो, तो एक रास्ता उसकी इस खजुआहट को मिटाने का हो सकता है। दूसरा उसे इतना साफ साफ बता देने का भी कि सवाद की पहली सीढी सचाई है। और सचाई है यह कि प्रधानमन्त्री देश के बुद्धिजीवियों से सवाद नही, सवाद के नाटक की बात चलाना चाहते हैं। अन्यथा इतना वो भी जानते हैं कि उन्हे ऐसी कोई सलाह कतई नही चाहिए, जो राष्ट्र के मुद्दों को प्रधानमन्त्री की कुर्सी से बडा करती हो। जो बहस को इस मुकाम तक (भी) ले जा सके कि इसके लिए उनका कुर्सी से हटना भी जरूरी हो सकता है। जो राजनीति का यह मर्म उजागर कर सके कि शासन करने वालो को कुर्सी पर बैठना ही नही वक्त पडे पर उठना भी आना चाहिए।

राजा को सही सलाह सिर्फ वह व्यक्ति दे सकता है, जो लोभ और भय से ऊपर हो। जो राज्य से स्वय के स्वार्थ साधने के मौको की तलाश म स्वय की बौद्धिक वचारिक थूथन आगे निकाल रहते हों, या जिनके घुटने राजा के शक्तिमण्डल की चकाचौंध की मार झेलने मे असमर्थ हो ऐसे बुद्धिजीवियो से प्रधानमन्त्री का सवाद कैसे होगा? सवाद तो, जैसा कि पहले ही कहा, बराबर के साझीदारो के बीच की वस्तु है। सवाद बौद्धिक वैचारिक साझीदारी की माग करता है। कर्म और स्थिति मे भिन्न होने के बावजूद उद्देश्य तथा चिंता मे समान लोगो के बीच सवाद स्वय बन जाता है। राष्ट्र और समाज के ज्वलन्त सवालो के प्रतिबद्ध लोग जब राजनीति मे आते हैं, तब उनका देश के बुद्धिजीवियों से अपने आप सवाद का सिलसिला बन जाता है। जार-शाही के विरुद्ध रूस और गोराशाही के विरुद्ध भारत के स्वाधीनता

संघष का दौर इसका प्रत्यक्ष उदाहरण हैं।

बिना उद्देश्य और चिंता मे एक हुए सघष मे एकरूपता असम्भव है और सवाद का कोई मतलब नही हुआ करता, अगर कि वह एक ही उद्देश्य के पथियो का आपस मे बातचीत करते चलना नही हो।

सचाई है यह कि जिस दिन इस देश मे समाज की राजनीति का उदय, उसी दिन राजनीति और विचार के क्षेत्रो के लोगो मे सवाद की जमीन भी तैयार होगी, इससे पहले नही। तब तक देश के बुद्धिजीवियो से सवाद की बात राजनतिक शिगूफेबाजी के सिवा कुछ नही क्योंकि हकीकत को प्रधानमन्त्री ही नही, देश के बुद्धिजीवो भी समझते जरूर है। यह भी कि देश की मौजूदा राजनीति मे एक ही राजनेता ऐसा नही, जिसका बौद्धिक वैचारिक कद हद से ज्यादा बौना नही हो। सत्ता और विपक्ष, दोनो जगह राष्ट्रीय व्यक्तित्व का अकाल मडरा रहा है। जो मच पर मौजूद हैं, उनसे वार्ता के लिए देश के बुद्धिजीवियो को छ इच छोटा करना जरूरी होगा। बल्कि, शायद, इससे भी ज्यादा क्योकि इनसे वार्ता के लिए मस्तिष्क ही नही, हृदय भी घर पर ही छोडना जरूरी होगा। कारण कि जो सत्ता पर विराजमान हैं, पक्ष या विपक्ष कही भी, उनकी चतना पर चर्बी की परतें जम चुकी हैं। जो नही हैं, उनकी चेतना झिल्ली हो चुकी है। आज का सच यही है कि अभिव्यक्ति और विचार की स्वाधीनता को खूटी पर टागकर ही कोई बुद्धिजीवी इस मुल्क के राजनेताओ से वार्तालाप कर सकता है।

देश आज गम्भीर सकटो से गुजर रहा है। ऐसे ही समय मे एकात्मकता की गहरी जरूरत हुआ करती है। राजनीति जब विचार और दृष्टि से चलना चाहे, तब एक बहस जरूरी है। लेकिन हर हाल मे सवाद बराबर का मामला है। प्रधानमन्त्री से सवाद के लिए देश के बुद्धिजीवियो को यह देखना जरूरी होगा कि किसकी हैसियत क्या है। तब प्रधानमन्त्री का वास्ता इस सवाल से भी पड सकता है कि हैसियत

सिर्फ कुर्सी की ही नहीं होती। इससे पहले तो कोई संवाद होना नहीं, क्योंकि कुर्सी और आदमी में संवाद असम्भव है। कुर्सी जब भी बोलती है, आदमी की बोलती बंद कर देती है।

देश जिन परिस्थितियों में घिरा है, लोगों की मानसिकता में जो दरारें आ चुकी हैं, संवाद जरूरी है। संवाद जरूरी है, विभिन्न क्षेत्रों के प्रवक्ताओं के बीच, राजनीति, शिक्षा, न्याय, प्रशासन, नीति नियोजन से लेकर कला और विचार—समाज के सभी क्षेत्रों के लोगों के बीच संवाद और बहस का वातावरण होना जरूरी है। किसी भी ऐसे देश के लिए जो आर्थिक-राजनैतिक ही नहीं, बल्कि मानसिक वैचारिक तौर पर भी विकलांग दिखाई पड़ने लगा हो। जहाँ बहस और संवाद के स्रोत तो उजाड़ पर हों, लेकिन बम व बंदूकें स्टेनगनों के साथ निरंतर गहरे होते जा रहे हों। लेकिन संवाद की पहली शर्त है सचाई और सचाई यह है कि हमारे सुदर्शन प्रधानमंत्री हमसे संवाद नहीं, सिर्फ संवाद का नाटक करना चाहते थे—और वह भी अभी तो शुरू हुआ नहीं।

● ●

स्त्री-हत्या का उत्सव

रूपकुंवर का दहन सनसनीखेज नहीं, शर्मनाक घटना है। सिर्फ दिवराला नहीं, पूरे देश के लिए। भारतीय समाज, संविधान तथा सरकार तीनों के मुंह पर कालिख है, रूपकुंवर का सती होना। जहां सैकड़ों लोग तमाशाई हों, उसे स्वेच्छा से सती होने का दर्जा कतई नहीं दिया जा सकता। क्योंकि अगर कोई सचमुच सती होना चाहती हो, तो उसे या इतिहास में जाना होगा—और या एकांत में अपनी चिता खुद रचनी होगी। क्योंकि सिर्फ जाहिल और बर्बर ही किसी को आग में जलते देखकर चुपचाप खड़े रह सकते हैं। हालांकि यह एक सचाई है कि जाहिलों और बर्बरों का न तब अकाल था, न अब है। लेकिन इतना तय है कि रूपकुंवर की हत्या में वह प्रत्येक व्यक्ति शामिल है, जो मौके पर मौजूद था। लेकिन सबसे जघन्य हत्यारे हैं, उसकी ससुराल वाले। अगर समाज जागता होता, तो रूपकुंवर के ससुरालियों के मुंह पर कालिख पोतकर, न सिर्फ यह कि पूरे दिवराला में घुमाया जाता, बल्कि स्त्री हत्या का उत्सव मनाने की जगह, जेल के सींखचों के भीतर अपने पाप कर्मों का रोना रो रहे होते।

दिवराला सबूत है कि हमारी बुद्धि का दिवाला पिट चुका है।

प्रधानमंत्री भी सती प्रथा रोकने को अध्यादेश लाने की घोषणा करके मगन है, जबकि नागरिकों के अस्तित्व की रक्षा के लिए संविधान प्रथम ही वचनबद्ध है। हत्यारों को फाँसी या फिर उम्रकैद की कानूनी व्यवस्था पहले ही मौजूद है। हर बात के लिए अलग से अध्यादेश जरूरी होने की बात करना संविधान की खुली तौहीन है। हमारे नवजात प्रधानमंत्री को हर काम के लिए अध्यादेश चाहिए। साफ है कि उनकी भी कोशिश मामले पर लीपापोती की ही है, अन्यथा वो पहले राजस्थान के मुख्यमंत्री और उन तमाम पुलिसवालों को निकाल बाहर करते जिन्होंने हत्या रोकने से इन्कार किया और लोगों को स्त्री हत्या का नंगा उत्सव मनाने की छूट दी।

अध्यादेश अधिनियमों की हकीकत किसी से छिपी नहीं। किसी काण्ड पर हो हल्ला उठते ही सरकार अध्यादेश जारी करने की वाहवाही लूटने में जुट जाती है। दहेज हत्यारों पर कितना अंकुश लगा पाई है सरकार हम सभी जानते हैं। आखिर रूपकुंवर के हत्यारे भी बेखराब छूट निकलेंगे। वाहवाही लूलने को गिरफ्तार किए गए हत्यारों को हो हल्ला बैठते ही, कानून के चोर दरवाजों से बाहर कर दिया जायेगा।

प्रभाष जोशी जैसे राष्ट्रीय पत्रकार जिसे पुनर्जन्मवाद के दिव्य दर्शन, परम्परागत गरिमा और वंशगत शौर्य की संज्ञा देने का घृणित पाप कर रहे हैं, वह राजपूतों के शौर्य नहीं, जमदूतों की बर्बरता का सबूत है। एक स्त्री को आग में भूनना शौर्य नहीं क्रूर नगई का परिचय देना है। हम यहाँ इस प्रसंग में सबसे पहले स्त्री की अवधारणा का सवाल उठाना चाहेंगे, क्योंकि आदमी धारणा के अनुसार ही व्यवहार करता है। स्त्री की हमारी अवधारणा क्या है, यही बात बतायेगी कि हमारा चरित्र क्या है, क्योंकि स्त्री अत्यन्त कठिन परीक्षा है। जो स्वयं के अस्तित्व में स्त्री में स्पर्श अनुभव करते हैं, उन्हें ही ...ो का सवाल भी व्यापता है। बबरों को स्त्री जिस्म के सिवा कुछ

नहीं।

जागृत समाजों की पहली पहचान स्त्री की प्रतिष्ठा है, क्योंकि संस्कृति के सारे रथचक्र संवेदना की धुरी से चलते हैं और संवेदना का मुख्य आधार है, स्त्री। वेदना का वरण उसे मनुष्य की प्रथम प्रतिश्रुति करता है क्योंकि वही सुनती है मनुष्य के पृथिवी पर अवतरण की पहली पहली आवाज। अभी जबकि हमारी वाचा, अनुभूति और श्रुति के सारे स्रोत दैवाधीन हैं एक वही है, जो कि गर्भ में प्रत्यक्ष क्षण अनुभव करती है हम। मनुष्य की प्रथम धारिणी वही है। धात्री से अधिष्ठात्री तक की उसकी संकल्पना यों ही नहीं की गई। भाषा में भी प्रथम आर्या का स्थान माना गया उसका। हम ज्यादा दूर नहीं जाएँगे। अपने ही देश काल और समाज में खोजेंगे स्त्री की अवधारणाएँ।

अर्द्धांगिनी से लेकर आद्याशक्ति तक का उसका विपुल विस्तार खोजने को हम अन्यत्र कहीं जाने की कोई जरूरत नहीं। स्त्री को महीयसी कहने कहीं दूर जाने की नौबत हमें कभी नहीं आई। कन्या से महाकाली तक कैसे जाती है स्त्री की शृंखला, इसे हमसे बेहतर पूरे विश्व में कोई नहीं जानता और इसमें क्या शक कि स्त्री की जो जो फजीहत और दुर्गति हमारे हाथों है इसका भी दृष्टांत मिलना, शायद, कठिन ही हो पूरे विश्व में।

स्त्री का सवाल मानव समाज का सबसे ज्यादा मूलगत सवाल है। जैसी स्त्री, वैसा ही समाज अवश्यम्भावी है। इसीलिए श्मन रूप कुँवर के प्रसंग में सबसे प्रथम स्त्री की अवधारणा का प्रश्न उठाया और इतना हम बिल्कुल दावे के साथ कहना चाहते हैं कि जो अवधारणा नहीं करते, जिस्म से भले ही पड़े रहें, चेतना के स्तर पर मर जाते हैं। उनकी संवेदना काठ चेतना उजाड़ और त्वचा खाल हो जाती है। हत्या भी वही करता है, जो अवधारणा नहीं कर सकता। जो इस सवाल से कभी नहीं जा सकता कि मनुष्य जब उत्पन्न होता है, तो

माता के पूरे अस्तित्व में कैसी अपूर्व हलचल मचाता हुआ आता है। और अगर कि उसे अनुकूल वातावरण नहीं मिलता, तो धीरे धीरे कैसे, अपनी जननी की आशा आकांक्षाओं की तरह ही ध्वस्त हो जाता है।

स्त्री का मतलब समझना सम्पूर्ण सृष्टि का मतलब समझना है। अगर हम सृष्टि का मतलब नहीं समझते, तो रूपकुंवर का मतलब भी नहीं समझ सकते, क्योंकि किसी भी वस्तु का सही सही मतलब सिर्फ वही समझ सकता है, जो कि उस आर से पार तक देख सकता हो। वस्तु हो कि आदमी, उसका एक छोर अधूरा है।

स्त्री के भी कई ओर छोर हैं। कन्या से मुलदती तक जाता है, उसके जीवन का व्यास। बिटिया से दादी अम्मा तक जाते हैं उसके रिश्ते। अगर कि वह अविवाहित विधवा या सतानहीन हो, तो भी वह स्त्री है और स्वयं में मानव समाज की एक धारा। सवाल यह है कि क्या हम उद्गम से मुहाने तक बहने का अवसर देते हैं उसे? जिस समाज में स्त्री को नदी की भांति बहने और अपनी कल कल को कहने का अवसर नहीं, वही अंधा रेगिस्तान है। रूपकुंवरें इसी अंधे रेगिस्तान में गुम होती हैं। यह स्त्री के प्रति बर्बरता का रेगिस्तान सिर्फ राजस्थान नहीं, उन सारे हिंदुस्थानों में है, जहां जहां इसे जमाया गया है।

एक पौदा तक प्रकृति में अपना अर्थ तभी पाता है, जब उसे उसका पूरा समय मिले। आदमी और काल का सम्बंध सामान्य नहीं। जब हमें प्रकृति में हमारा पूरा समय नहीं मिलता, तो हम इसे अकालमृत्यु कहते हैं। जब समाज से नहीं मिले, तब क्या कहेंगे इसे? सिवा अकाल हत्या के और क्या माना जाय रूपकुंवर के अग्निदाह को? नाम का राजस्थान रह गया है और नाम के राजपूत। चरित्र राक्षसों से ज्यादा घृणित है। राक्षसों के यहां बहू बेटियों को आग में जीवित भूनने का उत्सव कभी नहीं मनाया गया। लेकिन

स्त्री को शक्ति यो ही नही माना गया । रूपकुँवर ने भी शक्ति होने का ही सबूत दिया है । पूरे देश की नगई को उघाडने का निमित्त होने की शक्ति का ।

रूपकुँवर के मामले का सबसे बडा पेंच है बिना सतति के ही विधवा हो जाना । और हमारे सामाजिक चरित्र का इतना खोखल और खूँख्वार होना कि अकाल विधवा हमको सासत क सिवा कुछ नही । हमारे चरित्र के खोट इतने शमनाक हैं कि इ हे ढापने के लिए न सिफ स्त्री की हत्या, बल्कि इसका बाकायदे एक ऐसा छद्म सामाजिक सांस्कृतिक दशन गढा जाना जरूरी है, जो हमारी सवेदनशू यता, चारित्रिक नगई, धार्मिक जघ यता और अमानवीयता पर वशानुगत शौय परम्परागत गरिमा का कुत्सित आवरण कर सके । हमारे, पुरुष नही, कापुरुष होने की हकीकत पर सांस्कृतिक पहचान का पर्दा तान सके । हमारे हत्यारे होने को आत्मा की अमरता तथा पुनज म के सिद्धा त के धोखे की टट्टी की आड म छिपा सके ।

जसा कि पहले ही कहा, हर वस्तु के दो छोर हैं । जहाँ पत्नी के न रहने पर पति के उसकी चिता मे प्रज्ज्वलित होने का शास्त्रीय विधान नही हो, वहाँ पति के साथ स्त्री के सती होने का तक गढना धूतता और जघ यता के सिवा कुछ नही । स्त्री पति वियोग मे विदग्ध होकर आत्महत्या कर लें, यह उसकी स्वेच्छा का सवाल हो सकता है । सती होना एक सावजनिक कृत्य है और इसमे शामिल प्रत्येक की शक्ल एक जघ य हत्यारे के सिवा कुछ नही ।

पति पत्नी, ये एक ही तथ्य के दो छोर हैं । तब इनमें से एक का नही रहना अलग अलग अथ नही रख सकता । जो स्थिति पति के बिना पत्नी की बनती हो, वही पत्नी के बिना पति की अगर नही है, तो साफ है कि कही कोई जबदस्त घपला है । रूपकुँवर का मामला हमारे इसी सामाजिक कोड की देन है, जो स्त्री को देवी महादेवी की

प्रतिमा के रूप म पूजने को तो धूप अगरबत्ती, घंटी खड़ताल लिये सदा प्रस्तुत है लेकिन समानता का दर्जा देन का कतई तयार नही। जबकि समानता का दर्जा पहले पडता है और ऊँचाई का बाद मे। हमे कुछ चेत नही कि जो स्त्री को समानता देन के हामी नही, उनकी देवीपूजा सिवा पाखण्ड के और कुछ नही। रूपकुँवर की सावजनिक हत्या हमार इसी चारित्रिक पाखण्ड की देन है। हम उ पीडित स्त्री को सात्वना दन म जितने असमथ साँसत खडी करन मे उतने ही महा-विकराल हैं।

रूपकु वर, या कहे कि बिना सतति की अकालविधवा, प्रत्यक्ष निम्न मध्यवर्गीय तथाकथित हिदू जातिसमूहो की सवेदनजडता, चारित्रिक उजाड और कु ठित बबरता की गवाही है। स्त्री सिफ चरित्रहीनो और कायरो कु ठितो को ही साँसत होती है। जिस समाज म स्त्री को बर्दाश्त करने की क्षमता नही वह कापुरुषो का डेरा है। हमे हमारा चारित्रिक उजाड खा रहा है। बेटा कैसा भी अयोग्य तथा भ्रष्ट होते भी प्राणो का प्यारा, लेकिन बहू बेटे के नही रहत ही साँसत है और इसम पूर समाज की बबरता और स्त्री के प्रति कुत्सित, नकारात्मक तथा बबर मानसिकता क दबाव भी उतने ही काम करते हैं। यहाँ हम एक सुझाव रखना चाहग। जिनमे बहू या भाभी का सती देखन का सास्कृतिक शौक हो उन्ह थोड़ा अपनी बेटी या बहन को आखा क सामने जीवित जलते देखन की कल्पना भी करनी चाहिये और जवाब देना चाहिये इस सवाल का कि क्या तब भी सचमुच कोई वेदना नही व्यापेगी।

रूपकु वर न पापा—मम्मी भइया को करुण चीखें मारी, या नही हम कुछ नहीं जानते लेकिन इतना बिल्कुल मानते हैं कि उन दोनो को धिक्कार है जो बेटी और बहन को जीवित जलाते सास्कृतिक र। या वशानुगत शौय अनुभव करें और इस चेतना मे शून्य हों।

बहू भाभी भी किसी की बेटी और बहन हैं हम फिर कहेंगे, जिस समाज मे स्त्री हत्या परम्परागत शौर्य या धार्मिक पवित्रता का प्रतीक हो, उसका विनाश निश्चित है।

हम वास्तव मे राजपूत होते, तो स्त्री—हत्या का उत्सव मनाने वाले जघन्यो को जाति—बाहर कर छोड़ते और इनके ऊपर थूकने का भी थूक की तौहीन मानते। हम राजपूत नही हैं। ऐसी प्रत्येक परम्परा संस्कृति और शौर्य सभी को बारम्बार धिक्कार है, जो स्त्री-दहन की वकालत करती हो।

सर्वोच्च वस्तु प्राण है। कोढ़ी भी स्वेच्छा से प्राण नही त्यागता। श्रेष्ठ वही है, जो प्राणो की कीमत समझता है। बर्बर समुदायो मे ही प्राणो की कोई कीमत नही। मनुष्य वह है, जो पशु को जीवित जलते देखकर भी व्याकुल हो उठे। जिन्हें एक अल्पवयस्क स्त्री का जीवित दाह सती—उत्सव लगे, उनकी खाल कोड़ो से खींची जाए, तो भी कम है, क्योंकि जिनकी त्वचा खाल हो जाती है, वो बिना सींग पूंछ के वीभत्स पशु के सिवा और कुछ नही। आदमी की खाल उतारना जरूरी है, क्योंकि खाल रहते उसे किसी की वेदना नही व्यापती।

धर्म, विचार, राजनीति, साहित्य, कला और संस्कृति—सबकी कसौटी है आदमी! और आदमी की कसौटी है, संवेदना! मनुष्य की वेदना से बेसरोकार धर्म, शास्त्र, संस्कृति, परम्परा राजनीति, ये सब सिवा जघन्य पातक के कुछ नही। स्त्री की सार्वजनिक हत्या पर दर्शन, संस्कृति और परम्परा का पर्दा तानने वाले लोग संसार के सबसे जघन्य हत्यारे हैं। रूपकुंवर की हत्या का उत्सव हमारे राष्ट्रीय पातकों का प्रमाण है। रूपकुंवर का अग्निदाह इस देश के स्त्री—हत्यारो की पहचान कराता गया है। इस रोशनी में हमारे सारे पाप उजागर हैं और ये पाप सिर्फ सती—काण्डो तक ही सीमित नही हैं। दहेज का दानव उस प्रत्येक घर मे नंगा नाच रहा है, जहां स्त्री अभी सिर्फ कन्या

है। लाखों स्त्रियाँ जिंदा गोश्त की कीमत पर बाजारों में सरेआम बिक रही हैं। लेकिन आश्चर्य कि 'चलो, बुलावा आया है, हमें माता ने बुलाया है।' के अखण्डकीर्तनिये हम पाखण्डियों का स्त्री-हत्या के उत्सव सतत और सर्वत्र चालू हैं।

● ●

कौन है भारत-भाग्य-विधाता

लोकतन्त्र का सारतत्व बहस है। बहस का चलते रहना ही लोकतन्त्र का मौजूद होना है। लोकतान्त्रिक राज्य-व्यवस्था मे कुछ भी बहस के बाद ही स्वीकार, या अस्वीकार, किया जा सकता है। इतना ध्यान मे रखते हुए कि चूकि आदमी स्थिर वस्तु नही, बल्कि एक सतत परिक्रमणशील तत्व (फेनॉमिना) है, इसलिए प्रत्येक वस्तु को निरंतर जाँचता ही चलेगा वह। कुछ भी उसके लिए अंतिम सत्य नही होगा। हमारे लिए पहले 'यशस्वी रहे हे प्रभो, हे मुरारे, चिर जीव राजा व रानी हमारे !' लगभग एक शताब्दी तक सत्य रह चुका और अब 'जन मन गण अधिनायक जय हे !' को भी चार दशक बीतने को है, तो याद रखना कुछ गलत न होगा कि हर वस्तु को जाँचते चलना ही चेतनागत विकास की प्रक्रिया मे होता है।

आदमी का इतिहास जाचते चलने का रहा है। इतिहास की किताब स्वय मे ही एक जाँच पुस्तिका है। घास पात, पोथी पत्रा से लेकर आकाश पाताल और आलू प्याज से लेकर आत्मा-परमात्मा तक को जाँचते चलने का एक लम्बा इतिहास रहा है हमारा। देर से ही सही ब्रिटिश साम्राज्य को भी हमने जाँचा जरूर और परिणाम

भी प्रकट हुआ। लेकिन इस हकीकत से मुह फिराना हक में न होगा कि १५ अगस्त १९४७ के आजादी के पव के बाद, हम फिर उसी चिर-उदासीनता मे चले गये, जब ईस्ट इंडिया कम्पनी के कुछ दलालों ने हमे बताया था कि वो भारत मे सिर्फ एक व्यापारी की हैसियत (और मात्र इसी उद्देश्य) से आये हैं। और कि इससे दोनों मुल्को को समान व्यावसायिक लाभ होगा। हम 'शुभ लाभ' के मुरीदों ने इतना जांच लेने की तब कोई जरूरत ही नहीं समझी कि इनका उद्देश्य क्या वास्तव मे इतना ही है? इस व्यापारकम्पनी का इरादा कही पूर्व मे अपने 'चिरजीव राजा व रानी' का 'यूनियन जैक' फहराना तो नही, इस सवाल मे हम स्वयं की भूमि से उदासीन गये ही नही।

भूमि और चेतना परस्पर जुड़े हैं। जिसकी चेतना जितनी विकसित होगी, भूमि से उतना ही गहरा उसका वास्ता भी होगा। जिसकी चेतना भोथर, वह जमीन से भी उतना ही बेसरोकार होगा। उसे कहाँ पता होगा कि राष्ट्र जमीन का ही नाम है।

राष्ट्र क्या है, रहने की जगह है। हमारे रहने की जगह की तरफ कोई लाव लश्कर या गट्ठर पत्तर बांधे आ जा रहा है, तो आखिर क्यो और किसलिए, इस चेतना का उजाड ही हमे शताब्दियो तक गुलाम बनाये रहा और इन सदियो लम्बी चोडी दासता के गहरे चकत्ते हमारे माथे पर ही नही चरित्र मे भी आज तक बाकायदे मौजूद हैं। और चूंकि १९४७ को मिली आधी अधूरी आजादी के बाद भी हम फिर जांचते परखते चलने की जगह, थमा दिये गये को ही नियामत मानने की मुद्रा मे पसर गये हैं, इसलिए राष्ट्र की आत्मिक भित्तियो का गारा पलस्तर चिटखता ही चला जा रहा है और हम सदा के चालबाज भीतरी टूट फूट को ऊपरी रंग रोगन से लीपने पोतने में जुटे हुए हैं। हमारे चरित्र में अचानक जो इधर एक राष्ट्रीय अखण्डता का ज्वार बड़े जोरो से फूटा है, यह

हमारे भीतरी खोखल को और बड़ा करता जा रहा है, क्योंकि इसमें स्थितियों को जाँचने की माँग नहीं, बल्कि राष्ट्रीय अखण्डता की आड़ में सत्ताकेंद्र की अखण्डता पर ईमान लाने का आह्वान मात्र है। जबकि आज राष्ट्र की अस्मिता पर जो चौतरफा संकट मंडरा रहे हैं, एक एक वस्तु को भलीभाँति जाँचने परखने की जरूरत है। खास तौर पर सरकार और नागरिक, दोनों के चरित्र को ! अब इस बहस की गहरी जरूरत है कि राष्ट्र की आखिर हमारी समझ क्या है।

हमारी समझ में राष्ट्र समाज का घर है। घर के आस पास की खाली जगह भी घर का हिस्सा होती है। रहने वालों और रहने की जगह के बीच एकात्मता ही किसी देश को राष्ट्र बनाती है। फौजों के बूते कायम कब्जा तो सिर्फ (साम्) राज्य बनाता है। इसलिए हमें इतना बिलकुल जाँचना होता कि हम पूँजी और राजनीति के गठबंधन से स्थापित शोषक उत्पीड़क राज्य के बाशिंदों की नियति में धकेल दिये गए हैं, या कि एक स्वाधीन राष्ट्र के रहवासी हैं।

राष्ट्र और राज्य ये दोनों अलग-अलग तथ्य हैं, इन्हें एक ही समझना बिलकुल गलत समझना है। राज्य के अंग-उपांग अलग हैं राष्ट्र के अलग। राज्य राष्ट्र की एक अंतर्वस्तु मात्र है, स्वयं में ही राष्ट्र नहीं। ऐसे में प्रथम हम राष्ट्र के चिह्नों की पहचान की माँग करेंगे और इस पर एक राष्ट्रीय बहस की जरूरत होगी। एक एक चिह्न को जाँच परख कर ही तय कर पायेंगे हम कि हमारे द्वारा मान्यता प्राप्त चिह्न पूरी तरह खरे हैं, या कि कहीं कुछ कमी बुनियाद में ही रह गयी है। इस दृष्टि से हम देखें तो राष्ट्र के तमाम मुख्य प्रतीक चिह्नों को भी हमें फिर से गहरे जाकर उलटना पुलटना होगा। इस सद्विश्वास में ही कि उलटते पलटते ही विटकने लगें, ऐसी वस्तुओं से सामान्य घर तक बनाना ठीक नहीं, राष्ट्र तो पूरे समाज के रहने का ठिकाना है।

संविधान, भाषा, ध्वज और गीत—ये किसी भी राष्ट्र की

पहचान के चार मुख्य प्रतीकात्मक खम्भे हुआ करते हैं। इसी चौखम्भे पर एक राष्ट्र समाज का पूरा नैतिकवितान टिका रहता है। इनमें से एक का भी गलत होना, पूरे देश की राष्ट्रीयता को सकट मे डाल सकता है। आज इतना ठीक ठीक तय कर लेना जरूरी है कि राष्ट्र सकट मे है या नही। अगर हम मानें कि है, तब यह भी मान लेना जरूरी होगा कि इन्ही चार खम्भो मे कही दरारें छूट गई हैं। और जैसा कि पहले भी कहा, दरारों को भीतर तक भरने की जरूरत होती है, इन्हें ऊपर ऊपर रग रोगन से लीपना पोतना ठीक नही। यहाँ हम 'राष्ट्रगीत' पर बहस से प्रारम्भ की माँग करना चाहेंगे। भाषा, सविधान और ध्वजा के सवाल भी इसमे पूरी तरह जुडे हैं। फिर कहेंगे, बहस मे कुछ हर्ज नही। इससे जाले साफ होते हैं और जाँची गई वस्तु का रूप अधिक निखर आता है। यहाँ राष्ट्रगीत मे के 'भारत-भाग्य विधाता अधिनायक' को लेकर बहस उठाने की जो कोशिश है, वह किसी प्रकार के औद्धत्य नही गम्भीर चिता और जिज्ञासा मे है। बहस से वस्तु धूमिल नही होती निखरती है।

२५ अगस्त १९४८ के दिन, 'राष्ट्रगीत' के चुनाव के मुद्दे पर, हमारे प्रथम प्रधानमन्त्री पण्डित जवाहरलाल नेहरू ने 'जन गण-मन अधिनायक, जय हे, भारत भाग्य विधाता !' के १९११ मे जार्ज पचम की स्तुति हेतु रचे गये होने के तर्क को निरस्त करते हुए सविधान-सभा मे घोषित किया— गान की धुन उसके शब्दो से ज्यादा महत्वपूर्ण है।'

हालाकि लोकतन्त्र तो तब भी बाकायदे मौजूद था, लेकिन नीति निर्धारण के मसले मे प्रधानमन्त्री का वक्तव्य लगभग एक 'राष्ट्रीय हुक्मनामा' ही हुआ करता था और इस पर कोई भी बहस स्वत सिद्ध रूप से निरर्थक मान ली जाती थी। 'पचो की राय सिर माथे, लेकिन पनाला तो वही गिरेगा। की टेक तब भी ससद से ऊपर थी। परिणाम यह कि अनेकानेक स्वनामधन्य राष्ट्रकवियो राष्ट्रीय विचारकों

को व की को भी राजेच्छा का लकवा मार गया और यह निहायत बुनियादी रूप जरूरी सवाल हमारी उस राष्ट्रीय मूढ यो की संविधान सभा मे कहीं, किसी भी कोने से उठा हो नही कि जब शब्दो का कोई महत्व ही नहीं, उनसे कुछ फर्क पडता ही नही, तब 'यशस्वी रहे हे प्रभो, हे मुरारे, चिरंजीव राजा व रानी हमारे !' को ही 'राष्ट्रीय धुन' मे ढला लेने मे क्या हर्ज है ? क्योकि अगर धुन ही मुख्य वस्तु हो, तब 'जन गन-मण' की धुन मे गाये जाने पर 'लारी लप्पा, लारी लप्पा लाई रखणा तेरी मेरी यारी रब्बा, लाई रखणा !' किस तर्क से राष्ट्रीय गीत नही माना जायेगा ?

देश का दुर्भाग्य कि हमारे किसी भी राष्ट्रीय मूढ य की वाणी मे यह सत्य प्रकट हुआ नही कि राष्ट्रगीत किसी भी राष्ट की अस्मिता का प्रतीक होता है, मात्र बैण्डवाजे की धुन नही। उसके एक एक शब्द मे राष्ट्र की आत्मा की अनुगूंज होना जरूरी है। यो भी शब्दों के महत्व को नकारना मखौल उडाना है।

हालांकि लोकतन्त्र का इतना मतलब तो उस जमाने मे भी बिल्कुल स्पष्ट था कि जो भी बहस करेगा उसकी जगह सत्ता दरबार से बाहर ही होगी और हमारे राष्ट्रकवियो का बुढापा ऐशो आराम की भूख म व्याकुल था। राष्ट्रीय चेतना की सूखी रोटी चबाने का ताब अंग्रेजो के छोडे माल भत्ते को देखते ही खत्म हो चुकी थी। अन्यथा ऐसा नही कि मैथिलीशरण जी, पत जी, दिनकर बच्चन आदि हमारे मूढ य राष्ट्रकवियो को इतना ज्ञान न हो कि राष्ट्र की आत्मा को प्रतिबिम्बित करने वाले शब्दों मे रचा गया गीत ही राष्ट्रीय गीत हो सकता है—विदेशी आर्केस्ट्रा मे तैयार कर दी गई कोई धुन मात्र नहीं।

बिना राष्ट्रीय शब्दो के कोई धुन कभी राष्ट्रीय नही हो सकती, इस सवाल को बहस का मुद्दा न बनाने का मतलब सारे राष्ट्रीय

युद्ध या के पण्डित जवाहरलाल नहरू के प्रभामण्डल के सामने पतिंगे की तरह फड़फड़ाते होने के सिवा और कुछ नहीं था। लोग इस मतलब को बाकायदे समझते भी थे, लेकिन खुद के नितम्बों के नीचे की मखमली आसन्दियों के सवाल चूंकि सारे राष्ट्रीय सवालों को बमानी बना चुके थे इसलिए बहस नहीं हुई।

चूंकि शब्दों को बेमतलब मानने का रिवाज संविधान सभा में ही निर्द्वन्द्व मान लिया गया, इसलिए शब्दों का पुरसाहाल संविधान में भी कोई नहीं रहा। वहाँ भी 'तिरंगा' राष्ट्रध्वज हो गया, 'जन-गण-मन' राष्ट्रीय गीत बन गया, लेकिन हिन्दी राष्ट्रभाषा तो दूर, राजभाषा भी महारानी विक्टोरिया की पालकी अनन्तकाल तक ढोते रहने की शर्तों पर ही घोषित हो पाई। शब्दों को मखौल की सामग्री मानने का यह सिलसिला ही आखिर 'वन्देमातरम्' के भूमि से हमारे मातापृथ्वी' के रिश्ते को तो ठोकर पर की वस्तु, लेकिन 'प्रेसीडेंट' को (राज्याध्यक्ष या राष्ट्राध्यक्ष की जगह) 'राष्ट्रपति' मनवाने के मुकाम तक पहुँचा! राष्ट्र क्या कोई निजी जागीर या सम्पत्ति है, इस सवाल को उठाने का नैतिक साहस हम शताब्दियों के गुलामों में न तब था, न अब है। क्योंकि हमारे लिए प्रभुओं की चुनी हुई घुन शब्दों से ज्यादा महत्त्वपूर्ण है।

बहस से किनारा करते जाने के कारण ही आज हमारे भाग्य-विधाता अधिनायकों को खुद बन्दूकों के पहरे में सिमटना पड़ा है। अन्यथा वह भारतवर्ष कोई और मुल्क नहीं था जिसमें हमारा प्रथम प्रधानमन्त्री अपना डेन्फुटा डण्डा लिए हजारों लाखों की भीड़ में निर्विघ्न निर्भय घुस जाता था और लोग गालियाँ देने, ढेले पत्थर फेंकने की जगह, 'पण्डित जवाहरलाल नेहरू की जय!' चिल्ला उठते थे। हिन्दू, मुसलमान, ईसाई सिख और पारसी आदि सभी जातियाँ तब भी इस देश में मौजूद थीं और विभाजन की धू धू धधकती आग में भी हमारा दुबला बुड्ढा करमचन्द मोहनचन्द गांधी नोआखाली में

मुसलमानों के मुहल्लों में बखौफ घुसता ही नहीं था, उनका प्यार और सम्मान भी बटोर लेता था। तब राष्ट्रीयता के तत्त्व हममें मौजूद थे। तब देश में शताब्दियों के बाद विश्व का यह सबसे बड़ा चमत्कार घटित हुआ था कि हमारे एक निहत्थे मुखिया की बहस के आगे ब्रिटिश साम्राज्यवाद की बदूकें बोल गई थीं। भारतवर्ष की राष्ट्रीयता एकजुट हुई थी, तो दुनिया को मानना पड़ा था कि बहस की ताकत बन्दूकों की ताकत से बड़ी है। बहस का आधारभूत मूल्य है—अहिंसा! जहाँ बहस से इन्कार हो, वहाँ अहिंसा सम्भव नहीं।

हम बहस की, मांग उठा रहे हैं तो इसलिए कि अहिंसा की लाठी हाथों में पिसक जाने से ही हम आतंकवादियों की बदूकों की दहशत में घिर गये हैं। यह आतंकवाद किसी एक छोर पर नहीं। सरकार स्वयं आतंकवाद के हथकण्डे हथियाने की आदी होती जा रही है। इसलिए जब हम 'राष्ट्रगीत' पर बहस की बात कर रहे हैं, तो यह सिर्फ चंद शब्दों की बहस का नहीं, पूरी राष्ट्रीय चेतना और संकल्पना का सवाल है। और इतना जाँच लेने में, हम फिर कहेंगे, कोई हर्ज नहीं कि हमारा राष्ट्रगीत दरअसल किसकी वंदना का गीत है—राष्ट्र या कि किसी व्यक्ति (अधिनायक) की?

अगर हमें यह समझा दिया गया कि महत्त्वपूर्ण धुन है, गीत के शब्द नहीं, तो क्या सचमुच सच ही समझाया गया? कहीं ऐसा तो नहीं कि शब्दों की जाँच में जाते ही गीत का अर्थ भी सही सही निकल आएगा, इस भीतरी डर में ही 'शब्दों में क्या रखा है?' का तर्क हमारे मत्थे मढ़ दिया गया—और हम ईमान ले आए? हालांकि ईमान भी जाँच की शर्त से बरी नहीं।

हम इतना मान लेते हैं कि चलिये, 'जन मन-गण' जार्ज पंचम की स्तुति में नहीं रचा गया। कदाचित् रचा भी गया होता, तो मात्र एक इस किसी समय में तात्कालिक दबावों में लिखे गये गाने से कवीन्द्र रवींद्र के राष्ट्रीय सम्पदा के स्तर के साहित्यिक अवदान का

महत्व कम नहीं हो जाता। फिलहाल हम इतना ही देख लें कि जितने शब्द राष्ट्रगीत के निमित्त एक लम्बी कविता में से हमारे द्वारा चुने गये हैं इनका मतलब क्या निकलता है।

शब्दों के अर्थ पर ध्यान दें गहराई से, तो स्पष्ट हो जाता है कि गीत में किसी एक ऐसे अधिनायक की सकल्पना और अभ्यर्थना की गई है, जो कि भारत का एकछत्र भाग्यविधाता है। जिसके शुभ नाम को लेते हुए सारे राष्ट्रवासियों को ही नहीं जागना है, बल्कि विंध्य हिमालय, गंगा यमुना और सागर की उच्छल तरंगों तक को इसी भारत भाग्य विधाता जन मन गण अधिनायक से शुभाशीष मांगने हैं, ताकि इनकी भी स्वस्ति बनी रहे। अब सवाल रह जाता है कि यह 'अधिनायक' कौन है ?

आज पंचम के ही भारत भाग्य विधाता होने की तो, शायद, कोई गुंजाइश नहीं, क्योंकि महारानी एलिजाबेथ तक का डेरा तम्बू यहाँ से कब का उठ चुका। पण्डित जवाहरलाल नेहरू से चिह्न मिलायें तो *सैद्धांतिक तौर पर, लोकतंत्र में अधिनायक के लिए जगह कहाँ होगी ?* कुछ राष्ट्रीय विद्वानों ने मामला यों बुझाने की चेष्टाएँ की हैं कि यह उस सर्वशक्तिमान परमपिता परमात्मा की वंदना है, जो हम सारे राष्ट्रवासियों की सुरक्षा और शुभ का उत्स है। जिसके पुण्यालोक में हम भारतवासी—आसेतु-हिमाचल एक आत्मिक और राष्ट्रीय ज्योति अनुभव करते हैं। लेकिन यहाँ भी अंतर्बाधा उपस्थित होती है यह कि एक धर्मनिरपेक्ष राष्ट्र का भाग्यविधाता परमपिता परमेश्वर को घोषित करना धर्म निरपेक्षता की चिंदिया उड़ाने *के सिवा और क्या होगा ? आखिर 'वंदेमातरम्' को तब धर्मनिरपेक्षता* के तहत में ही तो अमान्य किया गया था ? हालांकि आज प्रातःगान बना लिया है, 'दूरदर्शन' में !

स्पष्ट है कि अगर हमारी संविधानसभा ने सर्वशक्तिमान परमपिता की 'भारत भाग्य विधाता' के रूप में अवधारणा की होती, तो

जो धर्मनिरपेक्ष लोकतन्त्र का पाखण्ड कभी नहीं रचते। तब उन्होंने भारत की एक ऐसे हिन्दू राष्ट्र के रूप में संकल्पना की होती, जिसका भाग्य विधाता वह परमपिता परमेश्वर हो जिसका शुभ नाम लेकर ही हम भारत के नागरिक ही नहीं, बल्कि गंगा यमुना विंध्याचल हिमालय समुद्र तक जागते हैं। ऐसे में यह तक स्वतः ही अप्रासंगिक हो जाता है कि 'भारत भाग्य विधाता' से हमारा तात्पर्य उस सर्वशक्तिमान चिन्तन स्वरूप परमेश्वर से होना है जिससे कि हम स्वयं की स्वस्ति की कामना रखते हैं। तब यह 'भारत भाग्य विधाता' कौन है ?

सवाल बहुत बेढब वस्तु है लेकिन खरी वस्तु सिर्फ वह है, जो सवालों की कसौटी पर खरी उतर जाय। 'राष्ट्रगीत एक पूरे राष्ट्र की आत्मा का स्वर हुआ करता है। उसे ऐसा होना ही चाहिए। और राष्ट्रगीत' ऐसा ही है कि नहीं, यह जिज्ञासा जरूरी है। हमारे पास इस जिज्ञासा का समाधान क्या है कि आखिर यह भारत भाग्य विधाता है कौन, जो कि इस राष्ट्र के समस्त जन गण के मन का अधिनायक है ? कहीं ऐसा तो नहीं कि यह प्रतीकात्मक रूप से अधिनायकवाद का ही सूचक गाना है और इसमें भाग्य के दर्शन करते रहने की हमारी प्रवृत्ति औपनिवेशिक मानसिकता से न उबर पाने का अचूक प्रमाण ?

नहीं हो ? मान लीजिए, हमसे कभी कोई विदेशी पूछ बठे कि यह हमारा भारत भाग्य विधाता कौन है, तो क्या बतायेंगे उसे हम ? और कहीं कह दिया कि 'हमें कुछ नहीं मालूम !' तो यह राष्ट्रीय शम का विषय होगा, या नहीं ?

बहरहाल अभी तो हम इस ज्वलत सवाल को इतनी सी राष्ट्रीय बहस के लिए सामने उपस्थित करना चाहते हैं कि धुन तो, खर, धुन हुई हो, लेकिन शब्दों का भी कुछ महत्त्व होता है, या नहीं ? और कि 'जय हे, जय हे !' गाने के लिए भी इतना ज्ञान होना जरूरी होगा या नहीं कि आखिर हम 'जय हे जय हे' गा किसकी रहे हैं ? बिना प्रभुओं की मूरत ठीक से पहिचाने, तो जनम के गुलाम तक 'जय हे जय हे !' नहीं चिल्ला उठते—हम शताब्दियों के गुलामों को आखिर हो क्या गया है ?

हम सचमुच नहीं समझ पा रहे कि हमारे राष्ट्रगीत म का यह 'भारत भाग्य विधाता' अधिनायक कौन है। अनेकानेक विद्वानों से समझना-बूझना चाहा, तो वो भी पण्डित जवाहरलाल नेहरू की तरह 'अरे, शब्दों में क्या रखा है—आशय तो राष्ट्र की वदना से ही हो सकता है।' कहकर टरका गये।

हमारे इस सवाल का जवाब भी अभी नहीं मिला कि क्या ऐसा होना सम्भव भी है कि शब्द अलग हों और उनका आशय अलग ? आखिर राष्ट्रगीत जैसे महत्त्व के काव्य में ऐसे शब्दों का प्रयोग असम्भव अथवा निषिद्ध क्यों हो जो आशय को अगम्य, अमूर्त या विरूप नहीं करते हो ? 'वागर्थाविव सम्पृक्तौ' क्या कालिदास ने यो ही कहने को कह दिया था ? क्या शब्दों में सचमुच कुछ नहीं रखा ?

जानना चाहना अवज्ञा करना नहीं। राष्ट्रगीत को सही-सही जानना हमारा नतिक कर्त्तव्य है। बिना ज्ञान की श्रद्धा अंधश्रद्धा है।

● ●

तमस दूर करने की सनद

(१) हालात ऐसे बन गये हैं कि कला और साहित्य की गुणवत्ता पर बहस के बजाय हाथापाई करने को कट्टरपंथी तत्त्व अपना सांस्कृतिक अधिकार मानने लगे हैं। असहिष्णुता की इस संस्कृति का यदि प्रतिवाद न किया गया, तो अंततः कलाकर्म ही असम्भव हो जायेगा।

(२) साम्प्रदायिक कट्टरपंथियों की ताकत में इजाफा होने के कारण सामाजिक-राजनीतिक हैं। इससे भी ज्यादा चिंता की बात यह है कि कुछ भोले भाले लोग, बल्कि सजग बुद्धिजीवी तक 'तमस' के प्रति आशंकित हैं। यह हमारे सांस्कृतिक वातावरण को विषाक्त कर पाने में कट्टरपंथियों को मिली सफलता का सबूत है कि नेक इरादे वाले लोग भी 'तमस' पर एकपक्षीयता का आरोप लगाते पाये जाते हैं।

(३) जरा देखें 'तमस' में ऐसा है क्या, जो कुछ लोग इतना बौखला रहे हैं, तो कुछ आशंकित हो रहे हैं। अब तक प्रसारित तीन 'एपिसोड्स' से साफ जाहिर होता है कि न केवल उपन्यास बल्कि टी० वी० सीरियल के रूप में भी 'तमस' उस अंधेरे को टटोलने की ईमानदार, व्यथापूर्ण कोशिश है, जिसने हमारे राष्ट्रीय जीवन को आज ग्रस

रखा है। जो लोग इस डरावने अँधेरे को आज और भी घनीभूत बनाना चाहते हैं जिनका रोजगार ही राक्षसी संस्कृति का निर्माण करना है जो हमारी आत्मा को तमस (अंधकार) के और भी गहरे कुओं मे धकेल देना चाहते हैं, वे ही लोग टी० वी० सीरियल 'तमस' के खिलाफ हाथ पैर फेंक रहे हैं।

(४) तमस' की चिंता किसी सम्प्रदाय विशेष के सर ठीकरा फोडने की न होकर उस वातावरण की बहुस्तरीय परख करने की है। कोई भी समाज अपने इतिहास की उपेक्षा नही कर सकता। विभाजन स्वाधीन भारत की विकटतम त्रासदी है।

ऊपर के चारो अंश पुरुषोत्तम अग्रवाल के 'चौथी दुनिया' के २१ जनवरी १९८८ के अंक मे प्रकाशित लेख से उद्धृत हैं। इतना कह लेने की इजाजत हो कि खुद उन्होंने भी जितना जागरूक इसमे कम भोला भाला बुद्धिजीवी होने का सबूत तो नहीं ही दिया है। उनके लेख मे 'तमस' के दूरदर्शन पर प्रसारण का नेपथ्य नदारद है।

कला, भाषा अथवा विचार माध्यमो के प्रति साम्प्रदायिक, सत्तागत अथवा सरकारी आतंकवादी रवया अपनाये जाने को सामंज मे जाहिलपन के तमस की ओर बढाने वाला करार दिये जाने से असहमति की गुंजाइश सिर्फ उन्हीं लोगो मे होगी, जो ग्रस्त स्वार्थों या साम्प्रदायिक संकीर्णताओं से ग्रस्त हों। जिनमे यह चेतना नदारद हो कि कला साहित्य अथवा विचार माध्यमो से प्रस्तुत कार्य कलापो का जवाब हिंसक हंगामो, लाठी भाले या छुरे त्रिशूलों से नही बल्कि बहस से दिया जाना चाहिये। कलात्मक अथवा वैचारिक प्रस्तुतियों का जवाब हंगामों से सिर्फ ऐसे जाहिल लोग ही दिया करते है जिनमे सामाजिक चेतना जितनी धुंधली साम्प्रदायिक अथवा सैद्धांतिक कठबुद्धि का तमस उतना ही घना होता है। जिनका सोच विचार विवेक और संयम से थोड़ा भी वास्ता हो, उन्हें कलामाध्यमों के

द्वारा प्रस्तुत वृता तो का जवाब, तक और विचार स दने की तमीज सीखनी होती है, क्योकि गलत बातो का सही जवाब भी तक और विचार स ही दिया जा सकता है। इस दृष्टि स देखें, तो तमस' के दूरदशन पर प्रसारण को लेकर जो हिंसात्मक हगामा मचाया गया, उसे सचमुच जाहिलपन के अलावा कुछ नही कहा जाना चाहिय। लकिन तमस' क मसले को जिस तरह पुरुषोत्तम अग्रवाल ने उठाया है, वह भी इस बुनियादी मुद्दे को अधेरे मे रखन की च लाकी की दन है कि 'तमस' के द्वारा इतिहास के सच को प्रस्तुत किय गये होने के दावे म सचाई कितनी है।

चूकि पुरुषोत्तम का लेख 'तमस' की पहली दो तीन किश्तो तक सीमित है, इसलिए उसी दायरे मे बहस ठीक होगी। क्योकि साम्प्रदायिक कटटरपथियो से लेकर, ढेर सारे भोले भाले लोगो तथा सजग बुद्ध जीवियो के तमस' के प्रति आशकित होने का जो सवाल उ होन हवा मे उछाल' है, उसका दायरा सिफ 'तमस' के टी० वी० प्रसारण तक सीमित है—'तमस' क उप यास रूप को लेकर कोई विवाद नही रहा है। लेकिन तमस' मे प्रसारण से आशकित होने के खतरो स पहले, खु" पुरुषोत्तम क निष्कर्षों म छिपे इस खतरे की ओर सकत करना जरूरी होगा कि जिस दूरदशन पर उ होने 'रामायण का प्रसा ण करक हिन्दू साम्प्रदायिकता फैला रहे होने का आरोप लगाया था, उसे ही 'तमस' के प्रसारण से साम्प्रदायिक एकता, साम्यवादी दृष्टि तथा अंधेरे को टटोलने की ईमानदार, व्यथापूर्ण और चेतनासम्पन्न कोशिशो मे जुटा सिद्ध करने के भोलेपन मे भी कुछ कम खतरा नहीं। 'तमसो मा ज्योतिगमय' के औपनिषदिक आल्हा" मे निमग्न पुरुषो त्तम को यह बात शायद भूल ही गई कि अभी कुछ ही वक्त पहले इसी 'दूरदशन' मे रामायण' के प्रसारण के खिलाफ भांति भांति के उद्गारों को वो खुद ही इतनी दूर तक हाथ पाँवों की तरह ही फेंक रहे थे कि 'रामायण' में सीता के हनुमान को पर पुरुष के रूप में

देखने का प्रसंग ही उन्हें उद्धरण के लिए सबसे महत्वपूर्ण अंश दिखाई पड़ रहा था। क्या पुरुषोत्तम कहना चाहते हैं कि 'रामायण' का प्रसारण करके जो 'दूरदर्शन' हिंदू साम्प्रदायिकता फैला रहा था, उसने ही अब अपने पाप कर्म के परिहार में 'तमस' का प्रसारण शुरू कर दिया है ? सजग ही नहीं किसी भोले भाले बुद्धिजीवी को भी इतना तुनुकमिजाज नहीं ही होना चाहिये कि खुद की तुष्टि का सवाल मुख्य हो जाय, स्थितियों को पूर्वापर, दोनों पक्षों से देखने का विवेक और धैर्य गौण।

पुरुषोत्तम ने तमस' की तीन किश्तों के प्रसारण से ही साम्प्रदायिकता का तमस छँट गये होने का दावा किया है। क्या दूरदर्शन के सूत्रधारों का भी यही खयाल है ? क्या भारत सरकार ने दूरदर्शन के माध्यम से साम्प्रदायिक कट्टरपंथियों की ताकत में इजाफा करने वाले समजिक राजनीतिक कारणों को ध्वस्त करने का पक्का इरादा कर लिया है ? पुरुषोत्तम के लेख से स्पष्ट नहीं होता कि वो दूरदर्शन को किसी राजनीतिक ताकत का माध्यम मानते है या नहीं। और अगर मानते हैं तो उस राजनीतिक ताकत को क्या मानते हैं—सम्प्रदायवाद को बढ़ावा देने, या कि इसे पक्के इरादे के साथ ध्वस्त करने वाली ?

जैसे कोई रुनहा बच्चा मनपसंद झुनझुना या खिलौना पाते ही उत्फुल्ल हो उठता, और खुशी की उत्फुल्लता को पूरी ताकत से हवा में उछालना शुरू कर देता है—ठीक वही हाल शायद, पुरुषोत्तम का 'रामायण से हिंदू साम्प्रदायिकता फैलाने के षड्यन्त्र को ध्वस्त करने के इरादे से सरकारनियन्त्रित माध्यम दूरदर्शन द्वारा प्रस्तुत 'तमस' के प्रसारण से हो गया ! जैसे कोई मनमाँगी मुराद पा जाने पर पिछले सारे गिले शिकवों को सिरे से भूल जाय, पुरुषोत्तम भी भूल गये हैं। उन्होंने इस सवाल से गुजरने की कोशिश नहीं की कि आखिर इन चन्द दिनों में ही दूरदर्शन के चरित्र में ऐसा क्रांतिकारी परिवर्तन क्यों हो गया ? भारत सरकार को 'रामायण' के प्रसारण से हिंदू

साम्प्रदायिक चेतना को विस्तार और विस्फोट का मौका मिल रहे होने के खतरों से आगाह आखिर किसने कर दिया अचानक ही ? देश की भोले-भाले लोगों ही नहीं,बल्कि पुरुषोत्तम—जैसे साम्यचेता बुद्धिजीवियों के भीतर का भी तमस छाँटने का अभियान भारत सरकार ने क्या यों ही शुरू कर दिया ? और यह भी ठीक ऐसे वक्त मे, जबकि मेरठ दिल्ली के दगो और राम बाबरी मस्जिद के उपद्रवों की धूल ठीक से नीचे बैठ भी नहीं पा रही ? एक तरफ 'रामायण' और दूसरी तरफ तमस' के प्रसारण का करिश्मा क्या शुद्ध सयोग मात्र है ?

'तमस' के टी० वी० प्रसारण से जो परमतुष्टि पुरुषोत्तम के वाक्यों मे फूटी पड रही है वह इस बात का सबूत है कि व्यवस्था के एक से हिंदुओं और दूसरे हाथ से मुसलमानों की तुष्टि की जादुई गेंद उछालने से न सिर्फ लाखो लाख भोले भाले, बल्कि पुरुषोत्तम जसे 'उत्तिष्ठ जागृत वरान्निबोध ' की ललकार लगाने वाले परमबुद्धिजीवी भी दिग्भ्रमित हो सकते हैं। अन्यथा पुरुषोत्तम भारत सरकार को देश के सरकार-नियन्त्रित दृश्य माध्यम पर पहली बार ऐसा प्रयत्न दिखाया जा रहा है जो साम्प्रदायिक हिंसा को अनाम अमूर्त असामाजिक तत्वों की जिम्मेदारी ठहरा कर पल्ला नहीं झाड लेता है।'[1]—जैसी मूल सनद थमाते हुए, हमे भी इतना बताते जरूर कि ऐसा देश की सरकार ने पहली ही बार क्यों किया है ? और कि आगे भी ऐसा (ही) करती रहेगी या यही आखिरी बार होगा ?

'रामायण' का प्रसारण भी तो आखिर देश की सरकार ने पहली बार किया है ? जबकि जहाँ तक दूरदर्शन से देश की विभाजन की त्रासदी को प्रस्तुत करने का सवाल है उसे बुनियाद' मे तमस' से पहले प्रस्तुत किया जा चुका। हालाँकि वहाँ इतिहास के सत्य का स्वरूप भिन्न था।

1—'चौथी दुनिया' २१ जनवरी १९८८

अकारण कुछ नहीं होता। पुरुषोत्तम को बताना चाहिये था कि देश की सरकार ने पहली बार ऐसा क्रांतिकारी कदम क्यों उठाया है? वो कुछ नहीं बताते कि साम्प्रदायिक हिंसा को अनाम अमूर्त असामाजिक तत्वों की जिम्मेदारी ठहराकर पल्ला भाड़ लेने से बचते हुए, देश की सरकार ने किन नामधारी या मूर्त तत्वों को जिम्मेदार ठहराया है। जबकि जोर देकर दावा यह भी किया है अपने लेख में कि अब तक अमूर्त ही चली आ रही साम्प्रदायिक ताकतों को पहली बार 'तमस' के प्रसारण के माध्यम से नंगा किया गया है, और इसी से साम्प्रदायिकता के तमस के रखवाले बौखला उठे हैं। किन्तु जिन आर्यसमाज, स्वयंसेवक संघ या मुस्लिम लीग—जैसे संगठनों को उन्होंने साम्प्रदायिक ताकतें करार दिया है, ये संगठन तो 'तमस' के प्रसारण के पहले से ही मूर्त रहे हैं। साफ है कि यह मूर्त को अमूर्त बनाकर फिर उसे पहली बार मूर्त किये गए होने का श्रेय लूटने की बौद्धिक चालाकी के सिवा और कुछ नहीं।

इस बात की ओर फिर इंगित जरूरी होगा कि 'इस देश के सरकार नियंत्रित दृश्य माध्यम पर' की सनद साया करते हुए पुरुषोत्तम ने, निहायत भोले भाले ढंग से, कांग्रेसी हुकूमत की विरासतदार मौजूदा सरकार को साम्प्रदायिक हिंसा की जिम्मेदारी से साफ बरी कर दिया। पुरुषोत्तम के दावे से तो कुछ ऐसा आभास भी मिलता है कि देश के सरकार नियंत्रित दृश्य माध्यम पर दो अलग अलग सरकारों का कब्जा एक साथ है। जब तक मे एक सरकार हिंदू साम्प्रदायिकता को उत्प्रेरित करने और हिंदू पुनरुत्थानवाद की आग भड़काने के लिए 'रामायण' चलाती है, तब तक मे दूसरी, साम्प्रदायिक हिंसा का गहरा तमस छाँटकर, देश के लोगों के हृदयों को हिंदू मुस्लिम एकता की रोशनी से झिलमिला देने के लिए तमस का प्रसारण शुरू कर देती है।

और चूंकि दृश्य माध्यम सिर्फ एक ही है इसलिये रविवार शनिवार पर समझौता कर लिया जाता है। (जाहिर है कि पहली सरकार

दक्षिण, दूसरी वामपंथी है !) इस बौद्धिक भोलेपन पर कौन बलिहारी नहीं जायेगा !

अब आएं पुरुषोत्तम के इस कथन पर कि—'कोई भी समाज अपने इतिहास की उपेक्षा नहीं कर सकता। विभाजन स्वाधीन भारत की विकट त्रासदी है। पहली बात यह कि इतिहास और साहित्य के सच तथ्यों के स्तर पर काफी कुछ समान होते भी, अपने गुणात्मक प्रतिफलन में ज्यों-के त्यों कभी नहीं होंगे। फिर भी पुरुषोत्तम का आग्रह यदि तमस के द्वारा अपने समय समाज के इतिहास के प्रतिनिधित्व का हो, तो भी कुछ सवाल जरूरी होंगे। मसलन 'तमस' की जिन दो तीन किश्तों के प्रसारण पर पुरुषोत्तम ने बहस उठाई, क्या ये सचमुच विभाजन की त्रासदी का कोई सम्यक् चित्र सामने रखती हैं? 'तमस' ने क्या क्या किया है, इसकी एक जो लम्बी तफसील उन्होंने अपने लेख में दी, वह 'तमस' उपन्यास का जितना हो, 'तमस' सीरियल का सच नहीं है। जबकि इतिहास का हो या साहित्य का, कोई भी सच किसी स्थान, काल के बीच और किसी कारण घटित होता है और इनकी आधी अधूरी या इकतरफा प्रस्तुति से सच नहीं, बल्कि सिर्फ सत्याभास सामने आता है।

'तमस' के दूरदर्शनी प्रसारण में इतिहास का यह सच पूरी तरह नदारद है कि विभाजन की साजिश को अंजाम देने में कांग्रेस का वह तत्कालीन नेता वर्ग सबसे ज्यादा लालायित था, जिसके अगुवा पं० जवाहरलाल नेहरू थे, महात्मा गांधी नहीं। इसलिये 'तमस' में इतिहास का जो तथाकथित सच चंद फलकियों में है, इन्हें लेकर विभाजन की त्रासदी उपस्थित किये, या अतीत, वर्तमान और भविष्य, तीनों को एक सृजनात्मक मोड़ दे दिये गए होने का दावा ठीक नहीं। दूसरे, इन किश्तों का इतिहास विभाजन की त्रासदी नहीं, विभाजन के दस्तावेजों पर दस्तखत होने से पूर्व के साम्प्रदायिक दंगों और इनके प्रति अंग्रेज साहब बहादुरों के बढ़िया रवैये मात्र तक सीमित है।

वकालत मे पुरुषोत्तम ने ऐसा बहुत कुछ अपनी ओर से थोप दिया है, जो 'तमस' सीरियल के यथार्थ मे कही नही।

अब देखना यह है कि हिन्दू मुस्लिम दगा की तैयारिया तथा इनके विस्फोट की जो झलकियाँ निहलानी ने प्रस्तुत की, वो इतिहास के सच को कितना सामने रखती हैं। और कि इन किश्तो मे ऐसे आपत्तिजनक वो मुद्दे क्या रहे हैं, जिनको लेकर कि हगामे खडे किये गये।

इन किश्तो का कथापटल पुरुषोत्तम सामने रख चुके, दोहराने की जरूरत नही। इनके द्वारा विभाजन की त्रासदी का सृजनात्मक मोड देने का सवाल ही नही, हिन्दू मुस्लिम दगो की पृष्ठभूमि और क्रिया न्विति के भी निहायत आधे अधूरे परिदृश्य ही सामने उभर पाते हैं। निहलानी इस सवाल को हाथ लगाते ही नही कि विभाजन के जिम्मेदार तत्व कौन थे। क्योंकि उन्हे पता है कि इस सवाल को छूते ही 'तमस' के दूरदर्शन पर प्रसारण की गुजाइश खत्म हो जायेगी। वो जानते हैं कि विभाजन के दस्तावेजो पर भारत की ओर से आर्यसमाज या स्वयसेवक सघ के सचालको के नही, बल्कि अग्रेजों की विरासतदार काग्रेसी हुकूमत के झण्डाबरदारो के दस्तखत मौजूद हैं। इन्हें सीमा कहा जा सकता था, लेकिन पुरुषोत्तम के दावे यह गुजाइश नही छोडते। वो बार बार इस बात पर जोर देते हैं कि 'तमस' मे इतिहास का सच प्रस्तुत किया गया है। जबकि 'तमस' का सारा दृश्यविधान सिर्फ साम्प्रदायिक बर्बरता और सामुदायिक सौमनस्य के फिल्मी प्रतिबिम्बन पर टिका हुआ है। और हकीकत तो यह है कि इतिहास के सच को आँख से ओझल करने की चालाकी निहलानी मे चाहे जितनी हो लेकिन इतिहास की या तो समझ ही नहीं, या वैसा साहस या कलासिद्धि गायब है जो काग्रेसी हुकूमत की आँखो मे धूल झोंक सके। इसलिये जब दावा हो तो यह सवाल भी जरूर बनता है कि जो झलकियाँ सामने आती हैं, क्या वे एक ईमानदार और प्रासगिक

कोशिश हैं ? क्या इनमे इतिहास के सच को इतिहास सच के के रूप मे ही प्रस्तुत करने की प्रतिश्रुति वास्तव मे झलकती है ?

जी, नही, कतई नही ! यह सिर्फ पुरुषोत्तम की खामखयालियो और आग्रही वृत्ति मे से फूटा उच्छ्वास मात्र है, जो विभाजन की त्रासदी स जुडे नाना प्रसगो से लेकर, प० जवाहर लाल नेहरू के पुण्य स्मरण तक का घटाटोप तानते हुए, ऊपरी तौर पर अत्य त ही भोला-भाला और सु दर, कि तु अ तवस्तु मे निहायत ही खोखल तकजाल बुनता है।

'तमस' की प्रारम्भिक किश्तो मे निहलानी ने चौधरी महमूद अली के सुअरमेध की रचना जितने प्रतीकात्मक ढग से की है, हि दू समुदाय की दगो की तयारियॉ, शास्त्र से लेकर शस्त्रो तक की हिंसात्मक दीक्षाओ तथा इनके क्रियात्मक प्रतिफलन की दृश्यावली को उतने की स्थूल रूप मे दिखाया है। इन तीन किश्तो का कुल निचोड यही है कि दगा की व्यापक स्तर पर पूर्व नियोजित तैयारियो और कत्लों के सिलसिले की पहल हि दू समुदाय ने की !

पुरुषोत्तम का यह दावा सरीहन झूठ है कि तमस' की इन शुरु आती किश्तो की चिंता हि दू या मुस्लिम, किसी भी समुदाय विशेष के मत्थे ठीकरा फोडने की नही, बल्कि वातावरण की बहुस्तरीय परत की रही है। क्या वो बतायेंगे कि जिनको दगो की तयारी और शुरुआत करते दिखाया गया, वो हि दू नही, तो किस समुदाय के हैं ? अगर पुरुषोत्तम का तक हो कि उसमे सिर्फ पृथ्वी अतरिक्ष से लेकर वनस्पति जगत तक की शांति का पाठ करते हुए युद्धस्तर पर मोर्चे की तया रियाँ करते आयसमाजियो तथा कुक्कुटवध की दीक्षा देकर, मुसलमानो को भी ठीक वैसे ही कत्ल करने का गुरुमत्र देने वाले खाकी निक्करियो की ओर मूत्त सकेत हैं, तो यह जवाब भी उ ह ही देना होगा कि क्या ये हि दू समुदाय नही ? या कि क्या मुसलमान अध्यापक की रक्षा को व्याकुल एक अकेली औरत ही सार हिन्दू समुदाय का प्रतिनिधित्व

करती है ? क्याकि इन किश्तों म सिफ वही अकेली औरत पड़ोसी मुसलमानो की रक्षा म क्रियात्मक हिस्सा लेती है, हिंदू समुदाय नही।

और अगर हिंदू समुदाय की साम्प्रदायिक सदाशयता क प्रतिनिधित्व के लिए इतना ही पर्याप्त हो तब दगा की साजिश म मुसलमान होकर भी सुअर का कत्ल करवाने वाले चौधरी महमूद अली को मुस्लिम समुदाय की साम्प्रदायिक हिंसावृत्ति का प्रतिनिधि किस तक स नही म ना जायगा ?

हालांकि पूरे सीरियल म निहलानी न इस तथ्य को निहायत कलात्मक चतुराई के साथ अमूर्त ही रखा कि सुअर मरवाने वाला चौधरी मुसलमान है। क्योकि अगर यह स्पष्ट हो जाता, तो खुद क मजहब क विरुद्ध सुअर मरवाकर दगा भड़काने की तोहमत मुस्लिम सम्प्रदाय पर आ जाती। और पुरुषोत्तम का दावा है कि किसी समुदाय विशेष पर ठीकरा नही फोड़ा गया बल्कि विभाजन की त्रासदी का एक सांगोपांग इतिहास उपस्थित करते हुए—अतीत, वतमान तथा भवि य को एक सजनात्मक मोड़ देने की क्रांतिकारी पहल की गई है।

भीष्म जी सम्प्रदायवादी नही और न उनके साहित्य म कहीं साम्प्रदायिक सकीणता क जहर का कोई स्पश झलकता है। कम्यूनिज्म के सिद्धात और कम्युनिस्ट पार्टी की इतिहास के सच स बाहर जाकर भी पैरवी करने की सदाशयता उनमे चाहे जितनी मौजूद हो। लकिन परिस्थितियो के दबाव महापुरुषो तक को डिगा देते ह। तमस' क दूरदशन पर प्रसारण से मिलने वाले लाभो क दबाव म, भीष्म जी ने इस ओर से आखें फेर ली है कि सीरियल का इस्तमाल काग्रेसी हुकूमत को दश के विभाजन क कलक से बरी करन क इरादे मे हो रहा है। इसलिय जो बात 'तमस' उप यास, ठीक यही बात 'तमस की निहलानी द्वारा हुई दूरदशनी प्रस्तुति के बारे म नही कही जा सकती, क्योंकि इराद नेक हों, तो भी स्वत सिद्ध नही हुआ करते। उन्हें काय मे भी सिद्ध करना जरूरी होता है। दशको के लिये निहलानी का मना

मत इरादा नहीं, बल्कि उनके द्वारा प्रस्तुत इन दूरदर्शनी किश्तों का यथार्थ ही 'तमस' सीरियल का यथार्थ है और यह यथार्थ झूठ से भरा तथा निहायत ही खतरनाक है, क्योंकि यह प्रतीक और स्थूल दृश्यों का एक ऐसा मायावी समीकरण तैयार करता है, जिसकी गंद बहुत दूर तक जाती है। इन किश्तों में देश के विभाजन की विकटतम त्रासदी का ठीकरा ही नहीं, बल्कि पूरा भांडा, साफ तौर पर, सबसे ज्यादा हिंदू संगठनों के माथे पर ही फूटता है, कांग्रेसी हुकूमत नहीं।

क्योंकि इतिहास का सच अगर यही हो कि दंगों और कत्लों की पहल हिंदुओं की ओर से हुई, तो मुसलमानों के पास पाकिस्तान मांगने के सिवा और कोई विकल्प ही कहाँ बचा? आत्मरक्षा हर हाल में जायज है।

इतना ही नहीं, यदि निहलानी द्वारा प्रस्तुत यथार्थ वास्तव में इतिहास का सच है, तो विभाजन की जिम्मेदारी ब्रिटिश साम्राज्यवादियों अथवा कांग्रेस या मुस्लिमलीग के ऊपर नहीं डाली जा सकती। तब देश के विभाजन की पूरी जिम्मेदारी उन हिंदू समुदायों पर आयद होती है, जो एक ओर शांतिपाठ तथा दूसरी ओर विधर्मियों को मुर्गियों की तरह काट दिये जाने के बर्बर दीक्षा-समारोह आयोजित करते हैं। हम फिर कहेंगे, अगर इतिहास का सच यही है कि दंगों और कत्लों की पहल हिंदू समुदायों ने की, तो निहलानी सचमुच पूरे देश के आभार के पात्र हैं।

कला की सिद्धि इतिहास के सच को तोड़ने मरोड़ने से बचाने में ही है, क्योंकि इतिहास को झुठला करके देश, काल और समाज के सच को उजागर नहीं किया जा सकता। जब किसी साहित्य, विचार या कला माध्यम के द्वारा इतिहास की प्रस्तुति का उद्यम हो, उस समय की राज्य व्यवस्था के निहित स्वार्थों के बहुत गहरे दबाव इस पर पड़ा करते हैं। इसलिए अगर निहलानी ने कांग्रेसी हुकूमत की

आंख बचाकर उसके ही माध्यम से इतिहास का सच प्रस्तुत किया, तो यह हिंदू मुसलमान, दोनों के हित में ही कहा जा सकता है और इस सच से सबक लिया जाना चाहिए। जिन समाजों में सच की ताकत न हो, उनका क्षय निश्चित है। निहलानी ने जोखिम झेलकर इतिहास के कलात्मक प्रतिबिम्बन से हमारे सोच-संवेदन को एक सृजनात्मक मोड़ देने और तमस छांटने का क्रांतिकारी काम किया है, तो हमें कृतज्ञ होना ही चाहिए। लेकिन सवाल फिर यही—इतिहास का सच क्या सचमुच यही है ?

यहां एक बात का ध्यान जरूरी होगा कि इतिहास हो कि साहित्य, किसी भी सच का सवाल समाज के हित के ऊपर का सवाल नहीं। जिसमें समाज की क्षति हो, वह हरहाल में झूठ है। इसलिए कैसे भी सच को अभिव्यक्ति देते में समाज-हित का सवाल केन्द्र में रखना जरूरी है। इस दृष्टि से देखने पर परिणाम शून्य ही मिलेगा। निहलानी की इन प्रस्तुतियों से सिर्फ विवाद खड़ा हुआ, इतिहास के सच या विभाजन की त्रासदी के बुनियादी सवालों में जाने की प्रेरणा नहीं मिली। 'तमस' में लोगों के सोच-विचार को सृजनात्मक मोड़ देने की कुव्वत खोजना, शाखामृगों की मांग में कस्तूरी खोजना है। तमस सीरियल की उपलब्धि लोगों की चेतना को सिनेमाई इन्द्रजाल में जकड़ने तक सीमित रही है।

हम पुरुषोत्तम को विभाजन की त्रासदी पर टी०वी० माध्यम की पहली प्रस्तुति 'बुनियाद' की याद फिर दिलाना चाहेंगे जिसमें कि इतिहास के इस सच को एक दूसरे रूप में प्रस्तुत किया गया था। तब रलियाराम कुटुम्ब की तबाही का सच क्या सिर्फ मुस्लिम समुदाय और पाकिस्तान का सच था ? और कि क्या तब इस देश के टी०वी०-माध्यम पर सिर्फ पाकिस्तान का सच प्रस्तुत किया गया था—और 'हिंदू राष्ट्र' का सैनिहासिक सच ?

सत्य के खतरे कभी कम नहीं हुआ करते। पुरुषोत्तम को

कौन समझाये कि निहलानी ने यह खतरा अनजाने मोल नहीं लिया, जान बूझकर उत्पन्न किया। बाद की किश्तों मे क्या होना है, इससे शुरू की तीन किश्तों की हकीकत म कोई फर्क नहीं पडना था, क्योंकि 'जो पहले मारे, सो मीर !' मुहावरा साम्प्रदायिक हिंसा मे पहले को शाबासी नहीं, राष्ट्रीय शम की वस्तु बनाता है। और इन किश्तो मे इस राष्ट्रीय शम के कोलतार को कांग्रेसी हुकूमत के चेहरे पर से पोंछकर हिंदुओं पर बडे फिल्मी अदाज मे पोता गया है।

इतिहास के सच पर फिल्म बनाना एक बात है इतिहास को फिल्मी बनाना बिलकुल दूसरी बात। निहलानी दूसरी श्रेणी के फिल्मकार हैं।

'आक्रोश'—जैसे आदिवासियो के जीवनसंघर्ष पर आधारित फिल्म में भी उनकी लिप्ति ओमपुरी और स्मिता पाटिल के मिथुन कर्म को हॉलीवुड की तर्ज पर 'हाइलाइट' करने पर ज्यादा थी, आदिवासियो मे शोषकों को बेनकाब करने पर कम। यहाँ भी नत्थू चमार जिस ढंग से अपनी बीवी से लाड लडाता है, वह फिल्मों के हीरो हिरोइन की केलिकला का करिश्मा ज्यादा प्रस्तुत करता है, 'तमस' उपन्यास के नत्थू चमार के जीवन की त्रासदी को उतना नहीं।

'तमस' सीरियल के प्रारम्भिक किश्तों मे निहायत मूर्त रूप से हिंदुओं को साम्प्रदायिक दंगों और कत्लों की योजनाबद्ध पहल करने वाला बताया गया और हंगामा इसी बात पर ज्यादा हुआ। इतना ही नहीं, निहलानी ने, गुजरमेध की ही तर्ज में, हिंदूराष्ट्र की भावना से मंत्रविद्ध हिंदू किशोरों के द्वारा मुर्गी से लेकर मुस्लिम फकीर के बकर कत्ल तक के दृश्यों को जिस सनसनीखेज फिल्मी अंदाज मे प्रस्तुत किया, वह सिर्फ खाकी निक्कर पहनने वाले कट्टरपंथियों ही नहीं, बल्कि हिंदू मात्र के प्रति घृणा उत्पन्न करने वाला है।

जिन आर्थिक-सामाजिक अथवा राजनैतिक कारणों से साम्प्रदा-

यिकता का जहर पनपता और फूटता है, उनको पर्दे के पीछे रखकर इस तरह के बबर दृश्य दिखाना, सिवा नफरत उत्पन्न करने के और कुछ नहीं करता। इस तरह के कुत्सित नजारों को बिना इनके पीछे निहित ऐतिहासिक तथ्यों के ही प्रस्तुत करना, तमस छाटना नहीं इरादतन हिंदू समाज के मुँह पर कोलतार पोतने की कोशिश करना है। सुअर से लेकर मुस्लिम फकीर की बबर हत्या तक में हिंदुओं को मुसलमानों से पहले शामिल दिखाना, यह इतिहास का सच नहीं गोविंद निहलानी का अर्द्धसत्य है और इस पर सबसे पहले भीष्म जी को एतराज होना चाहिए था। अफसोस कि नहीं हुआ।

यही नहीं, 'तमस' में किताबों को जलाने का काम करते भी सिर्फ हिन्दुओं को दिखाया गया है, जबकि इतिहास का सच सिर्फ अमृतसर नात घर ही नहीं, लाहौर रावलपिण्डी और कराची का सच भी रहा है। जैसा कि पहले भी कहा, इतिहास या साहित्य, किसी के भी सच को दिखाने की पहली शर्त उसके समाज, काल और कारणों को समग्रता में दिखाना है। निहलानी में सच को उसके पूर्वापर अंगों के आलोक में दिखाने की यह तमीज सिरे से नदारद है। अन्यथा क्या यह असम्भव है कि विभाजन की त्रासदी के दौर में किसी हिंदू अध्यापक के घर की किताबों को मुसलमान दंगाइयों के द्वारा आग लगा दी गयी हो और वह भी निहलानी के फिल्मी अन्दाज में 'देखिये, यह रहा अमीर खुसरो का अदब, यह दीवाने गालिब, यह मीर साहब और दाग जफर-जिगर मुरादाबादी फैज का कलाम चीखता रह जाय?

पुरुषोत्तम ने अपने लेख में, रोमिला थापर के हवाले से भी कुछ ऐसा दृश्य रचा है, जैसे किताबें जलाने का काम सिर्फ हिन्दू ही करते आ रहे हों। जबकि किताबें सिर्फ दिल्ली पंजाब ही नहीं, रूस चीन फ्रांस ईरान, तूरान पाकिस्तान और जर्मनी-जापान आदि मुल्कों में जलायी गई हैं। सिर्फ हिन्दुओं के द्वारा जलायी गई किताबों की

फहरिश्त हवा मे उछालना सजग नही बल्कि पूर्वग्रहग्रस्त बुद्धिजीवी होने का सबूत देना है।

साम्प्रदायिक हिंसा बर्बरो जाहिलो की चीज है, लेकिन खेद कि पुरुषोत्तम हर बार सिर्फ हिन्दू साम्प्रदायिकता को लताड़ते है और रामलीला की परम्परा तक मे उन्हे हिन्दू पुनरुत्थानवाद की आग को जगाये रखने की साजिश दिखाई पड़ती है। यदि रामायण के नित्यपाठ या रामलीला के वार्षिक अनुष्ठानो से हिन्दू पुनरुत्थान पर साम्प्रदायिक खमीर चढाये जाने की साजिश साबित होती हो, तब यही स्थिति गिरिजाघरो, गुरुद्वारो और मस्जिदो में बाइबिल, ग्रंथ साहिब और कुरान पाक के नित्यपाठ से क्यो नही बनेगी, इस सवाल मे पुरुषोत्तम को कोई दिलचस्पी नही। सिर्फ एक घड़े पर साम्प्रदायिक हिंसावृत्ति का इलजाम थोपना, दूसरे घडो की साम्प्रदायिकता की पीठ थपथपाना है और यह पद्धति पार्टी-सिद्धातो के काम की चाहे जितनी हो इससे हिन्दू और मुसलमान के बीच की दरारो का दूर होना सम्भव नहीं। साम्प्रदायिकता मात्र को लाछित और उजागर करके ही साम्प्रदायिक तमस छँटने की जमीन तैयार की जा सकती है। एकतरफा वकालत तो साम्प्रदायिक कट्टरपथियो की मुहिम को ही और खुराक पहुँचायेगी।

एक सवाल पुरुषोत्तम से और पूछ लेने मे कोई हर्ज नही। 'तमस' के साथ लेखक के रूप मे भीष्म जी का न होकर, अज्ञेय या जैनेन्द्र जी का नाम हुआ होता, तो भी उनकी प्रतिक्रिया यही होती? या यो कहे कि अगर भीष्म जी पार्टी से जुड़े नही होते, तो भी?

हाँ जहाँ तक 'तमस' के प्रसारण को लेकर दूरदर्शन के द्रो पर हल्ला बोलने वालो का सवाल है, उसमे भावावेग में शामिल होने वाले तो कई भोले भाले लोग भी जरूर हो सकते हैं लेकिन हिंसक जत्थो का सगठन और नेतृत्व करने वालो को तो सिवा जाहिल के और कुछ नहीं कहा जा सकता। किसी भी साहित्यिक वैचारिक या

कलात्मक प्रस्तुति के बारे में कुछ भी विवाद बहस के तौर पर ही उठाया जाना चाहिए। निर्णायक स्तर पर कुछ भी तभी तो कहा जा सकता है—और तभी कहा भी जाना चाहिए—जब बात पूरे तौर पर सामने आ चुकी हो। जिनमें किसी वस्तु का ध्यान और धैर्य से देखने का विवेक नदारद हो, वो कभी भी कोई प्रासंगिक कदम उठा ही नहीं सकते। दूरदर्शन, रेडियो या अखबारों में की सामग्री को देखते ही गुस्से से बौखला कर हंगामा खड़ा कर देने वाले लोग समाज या देश के हित में सकारात्मक ढंग से कुछ सोचने विचारने की प्रक्रिया को आगे बढ़ा ही नहीं सकते। ऐसे लोग किसी भी समाज के लिए सिर्फ खतरनाक ही सिद्ध हो सकते हैं, क्योंकि ये भेड़ या भेड़िए दोनों ही स्तरों पर दूसरों के इशारों पर हंगामा खड़ा करते हैं। पुरुषोत्तम को भी, शायद, इतना जरूर याद होगा कि 'खून का बदला, खून से लेंगे !' का प्रसारण भी देश के इसी सरकारी दृश्य माध्यम पर हुआ था ! (और जहाँ तक याद आता है, शायद, पहली ही बार !) नतीजे हम देख चुके हैं !

इसमें क्या शक कि यह हिंदू समाज की संवेदना में तेजी से क्षय का दौर है। सहिष्णुता और समरसता के जिस अनन्य गुण ने भारत को वैदिक से लेकर गंगा जमुनी सभ्यता तथा संस्कृति तक का विरासतदार बनाया उसमें गहरी दरारें आ चुकी हैं। लोगों को धर्मांधता की अंधी गलियों की तरफ हाँकने वाले संगठनों की ताकत में बढ़ोत्तरी हिंदू समाज की भयावह क्षति है, क्योंकि यह एक उदात्त समाज की आत्मिक शक्ति के ढह रहे होने का लक्षण है। लेकिन अफसोस कि पुरुषोत्तम-जैसे सजग बुद्धिजीवी भी इस खतरे को और बढ़ाने में ही हाथ बँटा रहे हैं। देश के विभाजन की त्रासदी अथवा साम्प्रदायिकता के खतरों की उनकी समझ निहायत सतही है क्योंकि वो इसकी जड़ें सिर्फ हिंदू अथवा मुस्लिम कट्टरतावादी संगठनों में ही [illegible] रहने को बौद्धिक सजगता की श्रेणी में गिनना चाहते

हैं। उस तथाकथित धर्मनिरपेक्ष व्यवस्था की तरफ उनकी आंख कतई नहीं उठती, जो साम्प्रदायिकता का सबसे बड़ा शक्तिकेन्द्र है। वा इस सचाई को पूरी तरह ओझल कर जाते हैं कि अगर 'तमस' क विभाजन की त्रासदी के वास्तविक बुनकरो पर रोशनी डाली गई होती, तो इसे सामान्य तौर पर फीचर फिल्म के रूप मे सार्वजनिक सिनेमाघरो तक मे प्रदर्शन की अनुमति नही मिली होती, सेंसर बोर्ड से—सरकार नियन्त्रित दृश्य माध्यम दूरदर्शन की बात ही बेकार है।

क्या पुरुषोत्तम नही जानते कि आर्यसमाज या स्वयंसेवक संघ जैसे हिन्दू कट्टरवादी संगठनो की निर्णायक शक्तियो की हैसियत न विभाजन का मुद्दा तय करते वक्त थी और न ही आज केन्द्र मे हिन्दू कट्टरपंथी सरकार सत्ता पर है। ऐसे मे देश के विभाजन की त्रासदी की बात हो, या आज के हिन्दू मुस्लिम दंगो की, जिम्मेदारी कांग्रेसी हुकूमत के मत्थे पर डाली जानी चाहिये थी, क्योंकि हकीकत यही है। 'तमस सीरियल मे इतिहास के इस सच से साफ इंकार है।

जो लोग 'तमस' सीरियल मे हिन्दू मुस्लिम दंगो और सामुदायिक सौमनस्य के दृश्यो की उच्चकोटि की कलात्मक प्रस्तुतियों का झुनझुना बजाते नहीं थकते, उन्हें इतना बताना जरूरी होगा कि जब दावा इतिहास के सच को प्रस्तुत किये गये होने का हो तो उन कलात्मक प्रस्तुतियो की कोई प्रासंगिकता नही, जो सच पर पर्दा तानती हो। जब दावा इतिहास के सच का हो, तब बहस भी इसी पर होगी। होनी चाहिए। ऐसे मे पुनः इतना कहने की क्षमा किया जाय कि पुरुषोत्तम की 'तमस' की समझ निहायत थोथी है, क्योंकि 'तमस' के टी०वी० प्रसारण के मुद्दे को जिस ढंग से उन्होंने उठाया इससे विभाजन की त्रासदी और साम्प्रदायिक हिंसा के आरोपो से बरी होने की सनद उन लोगो के हाथ आई, जो कि तमस के सबसे बड़े रखवाले हैं।

इतिहास का सच इतना आसान नहीं, जितना पुरुषोत्तम समझ बैठे। देश के विभाजन के इतिहास की प्रस्तुति उसी कांग्रेसी हुकूमत के नियंत्रित दृश्य माध्यम में सम्भव ही नहीं, जिसके अंगूठे की छाप सत्ता हस्तांतरण के दस्तावेजों में आज भी मौजूद मिलेगी। इतिहास की तरफ झांकने पर इतना साफ दिखाई दे जायेगा कि ब्रिटिश साम्राज्यवाद के विरुद्ध स्वाधीनता के संग्राम के इतिहास में जो भूमिका भारत की जनता की है, ठीक वही उन कांग्रेसी नेताओं की नहीं, जिन्होंने आखिर महात्मा गांधी तक को हाशिये पर कर दिया और सत्ता की हविश में ब्रिटिश साम्राज्यवाद के साथ सौदेबाजी करके, देश को दो टुकड़ों में बाँटकर रख दिया।

यह एक ऐतिहासिक तथ्य है कि साम्प्रदायिक दंगों की आग देश के विभाजन पर तुली मुस्लिम लीग और खुद के नितम्ब हुकूमत की कुर्सियों पर टिकाने को व्याकुल कांग्रेसी नेताओं की सांठ गांठ से फली थी। 'तमस' सीरियल में इतिहास का यह सच नदारद है। इसमें साम्प्रदायिकता का तमस दूर करने की सनद कांग्रेस के हाथों से थमाने के विनिमय में ही भीष्म साहनी और गोविंद निहलानी दोनों कांग्रेसी हुकूमत के द्वारा पुरस्कृत भी किये गए हैं।

• •

राष्ट्रपति बनाम प्रधानमन्त्री

जगत मे हर वस्तु के दो छोर हैं। अखबारनवीसी के भी। कागज इकहरी चीज नही। काले कारनामो से लेकर महाकाव्यो तक जाती है इसकी परिधिया। अक्षरज्ञान से लेकर अखबारनवीसी तक, कागज उस हर स्याह सफेद काम को जरूरी है जिसमे लिखत पढ़त जरूरी हो। अखबारनवीसी को लें, तो इसके भी एक छोर पर नागरिक मे चेतना जगाने की मुहिम हो सकती है, दूसरे पर मानसिक दोहन की। कहां, किस छोर पर क्या है, यह जांचते चलने की जिम्मेदारी उसकी है जिसे वस्तु को बरतना है। वस्तु अखबार हो कि आलू! आदमी को तो अखबार ही नही, आलू को भी ध्यान से पढ़ना चाहिये। बिना पढे न अखबार की असलियत समझ में आनी है न आलू की।

अब अगर आप कहें कि अखबार पढने का तरीका तो आपको बिलकुल आता है, आलू भी कोई पढने की चीज है? हम कहेंगे आलू ही नहीं, अखबार भी खाने की चीज है। आदमी के सिर्फ पेट ही नहीं एक अन्द चेतनाजगत और मस्तिष्क भी है और खुराक की जरूरत प्रत्येक को है। जहां तक पढने का सवाल है, अपढ भी पढना जरूर है। भाषा ही नहीं, भावना भी पढी जाती है। आदमी की बनावट समझना जरूरी

है। वह आँख ही नहीं, कानों से भी पढ़ता है। जब कान भी साथ न दें, तो अनुमान से पढ़ना है। आदमी चूंकि खुद एक निहायत ही चलती फिरती, सोचती समझती, लिखती बोलती चीज है, इसलिये वह आलू को भी बाकायदे लिख-पढ़ सकता है। लिखत पढ़त जुड़े हैं। जिसे लिखा, उसे बाकायदे पढ़ा भी जा सकता है। जो आलू को नहीं पढ़ सके, वो अखबार क्या पढ़ेगा ? प्रेमचन्द की कफन कहानी का आलू पढ़िये। आलू वही है जिसे हम बरतते हैं, मगर मतलब वही नहीं।

कुछ भी ऐसा नहीं जो आदमी की लिखत पढ़त से बाहर हो। लिखत पढ़त के भी दो छोर हैं। सही और गलत। सच और झूठ। आदमी के भी दो छोर हैं। उसके रहने की जगह यानी देश के भी। इन दोनों में एक तरफ बहुत बड़ा फासला है दूसरी तरफ बिलकुल नजदीकी रिश्ता। हमारे रहने की जगह मड़या से महादेशों तक जाती है। सवाल है यह कि हमारी चेतना की परिधियाँ कहाँ तक जाती हैं ? क्योंकि आदमी की असली औकात मड़या और महल नहीं, बल्कि चेतना से तय होती है। चेतना कुंद है, तो कंचनमहल में काठ का उल्लू है। चेतना जागृत है, तो मड़या की मिट्टी जगमग-जगमग ! हमारी चेतना का हाल क्या है ?

एक मुहावरा है—घर भरना ! अब घर भरने की फिक्र में अगर इससे हमें कोई वास्ता ही नहीं रहे कि हमारे देश और समाज के वातावरण में क्या भर रहा है, तो यह किस बात का सबूत होगा ? घर में कितना भी माल मत्ता या सुन्दरता भरने से कुछ नहीं होगा अगर कि बाहर दरिद्रता और प्रदूषण का राज रहे ! घर के आँगन में आसमान तक की स्वच्छता चाहिये आदमी को। सिर्फ [illegible] पर संगमरमरी बनाने से कुछ नहीं [illegible] देश में मरघट [illegible] जमाने रहे। जो पूरे देश को [illegible] जगह के से उदासीन हों वो एक [illegible] कभी [illegible] अपने तक कटिबद्ध लोग ही [illegible] डालते

चारदीवारी से बाहर की चिंता न करने वाले ही पूरे देश मे चरित्र का सकट उत्पन्न करते हैं। क्या हमने कभी इस चिंता मे जाने की कोशिश की कि हमारे कार्यकलापो का असर कहाँ तक जायगा ? यानी कि अगर हम सिर्फ खुद के निहित स्वार्थों तक ही सीमित है, तो दूसरो को क्यो गरज हो कि वो हमारा ध्यान रखें ?

आज यह एक दूसरे का ध्यान न रखने का सिलसिला अगल-बगल, अडोस पडोस, गली मोहल्ले, गाव कस्बे और नगर महानगरो तक होता पूरे राष्ट्र मे क्यो कायम हो गया है, ये कुछ हमारे व्यावहारिक जीवन के नितान्त जरूरी सवाल है और इतना देखते चलना बहुत जरूरी है कि कौन हमे इन बातो का ध्यान दिलाते चल रहा है—कौन इनसे बेखबर रखता हुआ। इस छोटी सी बात मे व्यक्ति से लेकर राष्ट्र तक के सारे जरूरी सवाल छिपे है। जरूरत सिर्फ इन्हें ध्यान से पढ़ने और समझने की है। कागज पर की लिखत पढ़त अगर हमारी समझ के झरोखे खुले रखने मे मदद न दे रही हो, तो साफ है कि कागज से चेतना के कपाट बन्द करने का काम लिया जा रहा है। हमारे अखबार नवीस कागज से क्या काम ले रहे है !

अखबारनवीसो का मुख्य काम है—दो छोरो को मिलाना। लिखने और पढ़ने वालों के बीच सेतु रचना। हमे बताते चलना कि वस्तुओ या स्थितियो का स्वरूप पहले कैसा था, आज क्या है और जो प्रक्रिया चलन मे है इसके बाद कल इन्होने क्या मोड लेना है। लेकिन यह एकतरफा काम नही। बताते चलने का कोई मतलब नही हुआ करता, अगर कि इसमे पूछते चलना शामिल नही हो। पाठकों की प्रतिक्रिया के 'आप और हम', 'डॉक्मुंशी' या 'आपके पत्रो से' जैसे कॉलम इसी पूछते भी चल रहे होने का अहसास दिलाने के निमित्त ही रखे जाते हैं। लेकिन सच पूछिये, तो क्या सचमुच पूछते चले आ रहे हैं अखबारनवीस हमसे ? या कि पूछने की औपचारिकता

निपटाने की चालाकी के सिवा और कुछ दम नहीं इसमें कि पाठकों के पत्रों की कुछ पंक्तियाँ छापकर छुट्टी पा लेना है? हम जो कुछ बताते चल रहे हैं, वह सही है कि गलत इस सवाल से छुट्टी पाने का सबसे कारगर तरीका है यह कि लो जो तुमने कहा, वह भी छाप दे रहे हैं! गलत सही और झूठ सच की बहस से बचने का आसान तरीका और क्या हो सकता है कि हम भी ठीक, तुम भी ठीक!

"लेकिन असली सवाल तो है यह कि क्या हम सचमुच पूछते हैं? सिर्फ छापने नहीं, बल्कि जवाब माँगने के इरादे से पूछते हैं? और अगर पूछते हैं तो ठीक ठीक जवाब नहीं पाने पर क्या यह भी पूछते हैं कि जवाब क्यों नहीं दिया जा रहा है? और क्या इस बात को एक बार नहीं सौ बार पूछते हैं कि—जो हमने पूछा था उसका क्या हुआ?

चलिए इस पूछने के नमूने के तौर पर, इस बार आप और हम मिलकर एक सवाल यही पूछ लें कि साहब, यह राष्ट्रपति बनाम प्रधानमन्त्री की संवैधानिक हैसियत का मामला क्या है? पिछले तीस सालों से लगातार अक्सर मगरमच्छ की तरह तट पर की धूप सेंकने की सी मस्ती में बाहर आ निकलने वाले इस परम राष्ट्रीय महत्त्व के मामले को अभी और कितने दशकों तक 'अण्डा पहले कि मुर्गी' की तर्ज में चलते ही रहना है? अब पूछने पर आ ही गये, तो लगे हाथों यह भी पूछते चलें कि देश भर के नागरिकों को बेवकूफ बनाते चलने के इस राष्ट्रीय नुस्खे की हकीकत क्या है? और कि आखिर क्या ऐसी अपरिहार्यता है हमें अखण्ड भारतीय स्तर पर 'बेगानी शादी में अब्दुल्ला दीवाना' की हास्यास्पद स्थिति में धकेलते रहने की?

राष्ट्रपति-प्रधानमन्त्री की मिली जुली कुश्ती का यह सिलसिला नया नहीं, लेकिन जो नजारा ज्ञानी जैलसिंह जी ने उपस्थित कर दिया, इसका सचमुच जवाब नहीं!

ज्ञानी जी ने यह तेवर तो जरूर दिखाया कि जो नियुक्त कर सकता है, उसे बर्खास्त करने का भी हक है! लेकिन इस बात का पता ही गय कि जो राष्ट्रपति संविधान को ठेंगे पर रखकर, नितांत असंवैधानिक तरीके से किसी को प्रधानमंत्री के रूप में घोष सकता है वह जरूरत पड़ने पर इसी संविधान से ऊपर वाली निजी विवेकप्रणाली से कस भी प्रचंड संसदीय बहुमत वाले प्रधानमंत्री को बर्खास्त भी तो कर सकता है? जब प्रधानमंत्री की नियुक्ति के लिए संसदीय बहुमत तो क्या सामान्य संवैधानिक प्रक्रिया तक की कोई जरूरत न हो तब उसकी बर्खास्तगी में सुर्खाब के परों की अपरिहार्यता क्यों हो? जाहिर है कि राजीवगांधी प्रधानमंत्री पद पर अभी भी विराजमान हैं, तो इसलिये नहीं कि संविधान ने ज्ञानी जी के हाथ बाँध रखे हैं।

हकीकत है यह कि चूंकि मुल्क के सत्ता शतरंज के राष्ट्रीय चैम्पियन अभी इस मोहरे को हटाने की अपरिहार्यता अनुभव नहीं कर रहे। अन्यथा जिन लोगों के इंगित पर संविधान को ताक पर रखकर नियुक्त कराया जा सकता है, वो इसी पद्धति से बर्खास्त भी करवा सकते थे। करवा सकते हैं। साफ बात कि किसी भी प्रधान मन्त्री की नियुक्ति या बर्खास्तगी में निर्णायक भूमिका संविधान नहीं, बल्कि उस संविधानतर प्रभुसत्ताका की है, जिसने 'संविधान को अपने हिसाब से और अपने हक में लिखवाया है। जैसे सृष्टि का कर्ता स्वयं को सृष्टि से अंतर्धान है, तैसे ही, भारत के असली भाग्य विधाता भी हुकूमत की शतरंज का खेल अभेद्य पर्दों के पीछे से चलाते आ रहे हैं। संविधान तो वक्त पड़े पर की नंगई ढांकने का संसाधन है। आपातस्थिति की नंगई के वक्त संविधान की हकीकत सामने आ चुकी है और संविधान के सर्वोच्च अभिरक्षक राष्ट्रपति महोदय की भी! वक्त पड़ने पर कैसा भी काला कारनामा संवैधानिक साबित किया जा सकता है, लेकिन इसके पहले संविधान सबसे ऊपर

है। पाखण्ड म तिलक चन्दन और चुटया सबस ऊपर रहते हैं, चरित्र इनकी ओट मे ! राष्ट्रपति बनाम प्रधानमंत्री की सवधानिक हैसियत का मकटसग्राम भी सिवा पाखण्ड के और कुछ नही।

अखबारनवीसी की भाषा म कहें तो सुना जाता है कि १३ मई की रैली म जब प्रधानमंत्री ने जयचद और मीरजाफर क रूपकों का इस्तेमाल करते हुए खुद के किसी व्यक्ति विशेष के प्रति नही, बल्कि देश की सासद' और जनता के प्रति जिम्मेदार होने का दावा किया, तो ज्ञानी जी न शाम को प्रधानमंत्री का राष्ट्रपति भवन म चाय पिलाई। एकात मे ले जाकर, बडे लाड से पूछा— क्यो, भई, ३१ अक्टूबर १९८४ के दिन रैली करके यह बताने की याद क्या सचमुच नही रही कि तुम किसी व्यक्ति विशेष के द्वारा प्रधानमंत्री नियुक्त किये जाने से इकार करते हो—और तभी प्रधानमन्त्री का पद स्वीकार करोगे जब देश की सासद और जनता प्रधानमन्त्री बनायेगी ?' बताया जाता है कि जवाब मे जो कुछ प्रधानमन्त्री न कहा उस ध्यान से सुन लेने के बाद ही ज्ञानी जी को सविधान और राष्ट्र की गरिमा को आँच न आने देने का सकल्प करना पडा।

बतात मे पूछत चलने क तक मे ही पूछत मे कुछ बतात भी चलना जरूरी हुआ। बहरहाल, फिर इसी बात पर आ जाएँ कि और क्या क्या पूछना चाहते थे हम। लेकिन इसस पहले देख ले थोडा यह भी कि इस प्रसग मे अब तक हम क्या कुछ बताया जा चुका। क्या सविधान विशेषज्ञो और क्या हमारे महामहिम राष्ट्रपतियो के द्वारा! इसम क्या शक कि हमारे अखबारनवीसो ने हूबहू वही सब हमे पढाया है जो कि बताने वालो के द्वारा बताया गया। लेकिन आत्मा और तात को पढ न म कुछ फक होगा कि नहीं ? कबीरदास ने क्यो कहा होगा—'तू कहता कागद की लेखी – मैं कहता आखिन की देखी!' सिवा यह बताने के और क्या मकसद रहा होगा उनका कागद की लेखी का भरोसा मत करो, जब तक कि आखिन की

दखो मे मिलान न हो जाय ! आइये, देख लिया जाय जरा कि कागद की लेखी क्या कह रही है और आखिन की देखी क्या !

सविधान के कागदो पर का सारतत्व, थोड म, कुछ यो है—राष्ट्रपति कोर कानूनो स ऊपर एक नैतिक सत्ता हैं। यानी प्रधानम त्री के अधिनायकत्व म जो मन्त्रिमण्डल 'कानून का राज' चलान को कायम होता है, उसके ऊपर नैतिक अकुश रखने को राष्ट्रपति की नैतिक सत्ता की अवधारणा की गई है।

ऊपर की इबारत को ध्यान से पढिये तो क्या मतलब निकलता है सिवा इसक कि हाथी अपन महावत की 'अवधारणा' कर रहा है ? जिस नैतिक सत्ता का डेरा राजसत्ता के दरबार मे हो वह कितना और कसा अकुश राजसत्ता के अलोकतान्त्रिक कारनामो पर लगा सकती है, इसके उदाहरण हमारी आँखो से दूर नही। पिछल सैंतीस वर्षों में क्या राजसत्ता न कोई अनैतिक कदम नही उठाया ? क्या आपातकाल का काला कानून भी नैतिक ही था ? था, तो हटाया क्यो गया ?

भारतीय सविधान की परिधिया इतनी व्यापक हैं कि कैसी भी तानाशाही को बाकायदे सवधानिकता का जामा ओढाया जा सकता है। आपातकाल सबूत है कि हमारे सविधान की हदें कहाँ तक जा सकती हैं। ऐसे मे इतना तय मान लना होगा कि जो कारनामा अलोकतान्त्रिक हो, जरूरी नहीं कि सरकार उसे असवैधानिक माने। राष्ट्रपति पद का आविष्कार भारत भाग्य विधाताओ ने राज्यसत्ता के ऊपर नैतिक सत्ता की अवधारणा नही, बल्कि राजसत्ता के अनैतिक कृत्यो पर नैतिकता (यानी सवैधानिकता) की मुहर लगवाने की कूटनीति मे किया। नैतिक सत्ता राजसत्ता की अशर्फियों से नही खेलती। जो सत्ता के मोहरो पर गुलछर्रे उड़ाता हो, वह हर हाल मे उसके अनुग्रह का मोहताज होगा। अगर राजसत्ता अनतिक हो, तो उसके किसी अग विशेष के नतिक होने की कोई गुजाइश नही होगी। सविधान मे राष्ट्रपति की हैसियत राज्य यवस्था स बाहर नही। राष्ट्रपति हरहाल मे

एक शुद्ध राजनैतिक सत्ता है नैतिक नहीं। नैतिक सत्ता शाही बग्घियों में नहीं डोला करती। उसका काम निष्काम राजसी भोग नहीं। उसकी जगह समाज है शाही दरबार नहीं।

संविधान के अनुच्छेद ७४ में नैतिक सत्ता के सबसे ऊपर होने की अवधारणा और इसी क्रम में मंत्रिमण्डल के हर संवैधानिक कार्यकलाप में राष्ट्रपति की सहमति और स्वीकृति का सैद्धांतिकी होती गई है। जो व्यवहार में नहीं, उसके सिद्धांत में होने की होकिन के सिवा और क्या कहा जाय? इस प्रसंग में सर्वोच्च न्यायालय के १९५५ के फैसले की ये दो मुखर नजीरें द्रष्टव्य होंगी, जिनमें राष्ट्रपति और मंत्रिमण्डल (प्रकारांतर से प्रधानमंत्री) की संवैधानिक हैसियत तय की गई है।

१—अगर हम यह मानें कि राष्ट्रपति का कमरा सर्वोपरि है और लोकसभा के निरीक्षण तथा नियंत्रण का जो अधिकार मंत्रिमण्डल को उपलब्ध है, वह राष्ट्रपति के अधिकारों के नीचे है, तो यह सोचना पड़ेगा कि संविधान में उसके लिए कोई लिखित या स्पष्ट प्रावधान है या नहीं।

२—हालांकि राष्ट्रपति मात्र शोभा प्रतीक नहीं हैं, लेकिन उनकी और उनके महान् पद की गरिमा ब्रितानी राजा की तरह इस बात से, बनी और बरकरार रहती है कि वह अपने मंत्रियों को उचित सलाह दें। अगर मंत्रिपरिषद् राष्ट्रपति की दृष्टि में अनुचित रास्ते पर जा रही है, तो वे ठोस सलाह देकर मंत्रिपरिषद् के विचारों को प्रभावित कर सकते हैं। वह मंत्रिपरिषद को फिर से विचार करने की सलाह दे सकते हैं, लेकिन मंत्रिपरिषद अगर उनकी सलाह नहीं मानती, तो राष्ट्रपति उसे स्वीकार करने को बाध्य हैं। (स० न्या० १९५५ अंक १, पृष्ठ ८२७)

इन दो नजीरों के संदर्भ में ये कुछ सवाल जरूरी होंगे।

१—मामले को विचार के लिए स्वीकार करते समय तो ठीक, लेकिन फैसला पारित करते में इस दलील का औचित्य क्या होगा कि

सविधान मे कोई लिखित या स्पष्ट प्रावधान है, या नही ? सात न्याया धीशो की खण्डपीठ नही देख और बता सकती कि इस मामले म सविधान मे क्या प्रावधान है, तो क्या खुदाई खिदमतगारो की कोई टोली आकर देखेगी कि सविधान मे क्या प्रावधान है, क्या नही ?

जिस देश के सर्वोच्च न्यायाधीशो का हाल यह हो कि पल्ला भाडकर अलग खडा हो जाने मे ही खुद की खैरियत देखें, वहाँ के सामान्य नागरिको का हाल क्या होगा ? क्या नही देखा—या नही देखना चाहा—न्यायाधीशों ने कि सविधान के राष्ट्रपति सम्बन्धी अनुच्छेदो मे क्या प्रावधान है, क्या नहीं ? क्या बिना सविधान पढे ही नियुक्त हो जाते हैं न्यायाधीश, वो भी सर्वोच्च न्यायालय के ? साफ है कि इस सारी टालमटोल के पीछे यह अमूत्त हिदायत काम कर रही है कि खबरदार, इस रहस्य को किसी पर कभी खोलना नही कि राष्ट्रपति की वास्तविक हैसियत सविधान नही, राजसत्ता के अधिनायकों के हाथो मे है। परिणाम कि राष्ट्रपति की सवैधानिक हैसियत आज भी निराकार ब्रह्म की है। उसे जब जैसी जरूरत हो, वैसी सवैधानिक हैसियत बनाने के चोरदरवाजों पर पर्दे आज भी ज्यो के त्यो लटके हैं।

२—उस महान् पद की महानता का क्या कहिये, जो अपने भूतपूर्व आका ब्रितानी राजा की नकल मे खडा किया गया हो ! कोई पूछे सविधानमार्तण्डो से कि ब्रिटेन के राजा के प्रतिरूप की अपरिहार्यता भारत मे क्यो ? यह बताने के लिये कि अग्रेज जरूर गये, मगर अग्रेज राज कायम है ? या इस चालाकी मे कि ब्रितानी राजा की नकल मे जन मन गण अधिनायकों का वशानुगत शासन कायम रखने, और इसे सवैधानिकता तथा नैतिकता का जामा ओढाने, के लिये ब्रिटिश आकाओं की नकल का एक अदद सवैधानिक शक्ति का सर्वोच्च मोहरा खडा करना जरूरी है ? ब्रिटिश माडल के लोकतत्र की छायावादी नकल के सिवा अन्यत्र कहाँ ऐसे महान् राष्ट्रपति पद की कोई जगह

होगी, जो एक अनुच्छेद में सर्वोच्च नैतिक सत्ता है, तो दूसरे में कैसे भी काले दस्तावेजों पर चुपचाप मुहर लगाने को लाचार कारिंदा ! पिछले अनुच्छेद में सेना के तीनों अंगों का सर्वोच्च सेनापति है, तो अगले में किसी फौजी कमाण्डर से भेंट करने के लिये प्रधानमंत्री की अनुमति का मोहताज ! अनुच्छेद ७४ में मंत्रिमण्डल को सलाह देने और ७८ में जरूरी सूचनाएं मांगने का अधिकारी है तो अनुच्छेद ८७ में मंत्रिमण्डल की सलाह पर कैसे भी अनैतिक दस्तावेजों पर चुपचाप दस्तखत करने को बाध्य ! —आश्चर्य कि *'राष्ट्रपति को ब्रितानी राजा की तरह ही आचरण करना चाहिये ।'* की नजीर पेश करते हुए हमारे माननीय न्यायाधीश गण भूल ही गये कि राजनैतिक-मानसिक रूप में भले ही हो, लेकिन संवैधानिक तौर पर अब भारत ब्रिटिश उपनिवेश नहीं रहा ! क्यों इतना महान् अनुभव होता है हमारे माननीय सर्वोच्च न्यायाधीशों तक को ब्रिटेन के राजा का पद ? आखिर क्यों नहीं दूर हो पा रही हमारे औपनिवेशिक चरित्र में से अंग्रेजों की मानसिक-बौद्धिक गुलामी की बदबू !

फैसले में यह भी स्पष्ट नहीं कि जिसकी सलाह मानने की कोई बाध्यता नहीं होगी, जो भेजे गये दस्तावेजों पर हरहाल में आंख मूंद कर दस्तखत करने को बाध्य होगा, वह व्यक्ति चाहे विश्वसम्राट का मुकुट धारण किये क्यों न बैठा हो—वास्तव में वह सिवा एक हास्यास्पद शोभामूर्ति के सिवा और क्या होगा ! जो परनाला कहाँ गिरेगा, यह तय करने में असमर्थ हो, उसके पंच फैसले की औकात क्या होगी ? जिसका पद पिलपिला, उसकी सलाह ठोस कैसे होगी ? सिर्फ सलाह देने का अधिकार अगर इतना संवैधानिक महत्त्व रखता हो, तो संविधान में हमारी जगह राष्ट्रपति से भी ऊपर होनी चाहिए क्योंकि हम भारत के प्रधानमन्त्री और मन्त्रिमण्डल को ही क्यों, रीगन, थैचर, मितरौं, देंग तेंग से लेकर गोर्बाचोव तक, दुनिया के सारे राष्ट्रपतियों-प्रधानमन्त्रियों और उनके मन्त्रिमण्डलों को यह सलाह देने के लिए पूरी

तरह स्वतंत्र हैं कि उन्हें क्या करना चाहिए, क्या नहीं ! क्या उनके हक मे होगा, क्या नही !

जाहिर है कि पूरे फैसले में सिवा वाग्जाल के और कुछ नही। इसमें इतना साफ संकेत है कि जो भी जानना चाहेगा कि राष्ट्रपति की सवैधानिक हैसियत की वास्तविकता क्या है, उसे सिवा बेवकूफ के और कुछ नही समझा जायेगा। अन्यथा कौन नही जानता कि पद के साथ उसके कर्त्तव्य और अधिकारो की सूची बिलकुल स्पष्ट जुडी होती है। एक चपरासी तक अपने अधिकारो से अनजान नहीं होता। राष्ट्रपति का पद तो हर हाल मे राष्ट्रपति का पद है।

यही एक जरूरी सवाल यह सामने आता है कि हमारे महामहिम राष्ट्रपतियो को तभी अपने अधिकारो को जानने की जरूरत क्यो महसूस होती है जबकि प्रधानमंत्री से कुछ खटपट हो जाय, या कि 'सेवानिवृत्ति' का समय नजदीक आ चला हो ? ज्ञानी जी को अपने कार्यकाल के साढे चार वर्षों तक कभी जरूरत नही हुई कि जरा यह तो देख लें कि आखिर उनके अधिकार क्या हैं। जबकि जैसा पहले ही कहा, चपरासी हो कि राष्ट्रपति, पद के साथ अधिकारो का सवाल अपरिहाय रूप से जुडा है। जो अपने अधिकारो से उदासीन हो, साफ है कि वह अपने कर्त्तव्यो से भी पल्ला झाड़े बैठा है। यानी उसे पता है कि सारी राजसी सुविधाएँ उसे इसी 'अप्रत्यक्ष अनुबंध' में दी गई हैं कि वह थमाई गई शक्ति का इस्तेमाल सिर्फ मुहर लगाने मे करेगा ! ...यह कोई मखौल नहीं, पूरे राष्ट्र के हित का सवाल है कि जो राष्ट्रपति अपने अधिकारो को जानने की जरूरत तक महसूस न करता हो वह राष्ट्रीय संकट उपस्थित होने पर सिवा संविधान विशेषज्ञो से खुद के अधिकारो की हकीकत पूछते फिरने के नाटक के सिवा और करेगा क्या ?

अब थोड़ा राष्ट्रपतियो के इस दावे पर भी विचार कर लिया जाय कि उन्हें प्रधानमंत्री से सूचनाएँ माँगने का अधिकार है। जिससे

दूसरो के द्वारा तैयार कागजो पर दस्तखत करने के सिवा कोई अधिकार न हो, उसके सूचनायें मांगने से क्या होना जाना है ? फेयरफक्स और बोफोस काण्डो पर सूचनाएँ प्राप्त करने का राष्ट्र को क्या मिला ? रह गया सवाल कि ससद मे बहुमत प्राप्त करन या खोने पर प्रधानमत्री को नियुक्त बर्खास्त करने की सवैधानिक प्रक्रिया तो राष्ट्रपति ही पूरा करता है, तो इस औपचारिकता को तो चुनाव आयुक्त भी निबटा सकता है। मात्र इतनी खानापूरी के लिए एक गरीब मुल्क पर करोडो अरबो की लागत का सफेद हाथी लादने का सवैधानिक चाहे जितना लेकिन लोकतात्रिक औचित्य कोई नही, क्योकि ससदीय बहुमत के विरुद्ध राष्ट्रपति तभी फसला ले सकता है, जब सनिक शासन कायम करना हो।

लोकतत्र का यह बुनियादी तकाजा है कि शक्ति का केन्द्रीकरण व्यक्ति म नही होने पाये। राष्ट्रपति को किसी प्रधानमत्री को नियुक्त या बर्खास्त करने के निजी अधिकार का मतलब ही ससद का अतिक्रमण है। प्रधानमत्री की नियुक्ति या बर्खास्तगी के मामले को ससद के अधीन ही रखना चाहिये, क्योकि लोकतत्र की धुरी ससद है — राष्ट्रपति नही। राष्ट्रपति को ससद से ऊपर करने का मतलब है, उसे ससदेतर शक्तिपीठ बनाना। कोई पूछे कि तब सद्धातिक तौर पर ही सही, सविधान मे राष्ट्रपति को सर्वोच्च सवैधानिक शक्ति क्यो माना गया है तो जवाब मुश्किल नही। राष्ट्रपति मे तानाशाही शक्ति का प्रत्यारोपण दरअसल ब्रिटिश मॉडल के ससदीय लोकतत्र के अधिनायक प्रधानमत्री की तानाशाही पर आवरण करने के इरादे से किया गया। आपातकाल मे श्रीमती इन्दिरा गाधी के हुक्म पर इमर्जेंसी के काले कानून पर स्वर्गीय फखरुद्दीन अली अहमद और 'ब्लूस्टार आपरेशन' के दस्तावेजों पर सेना के तीनो अगो के सर्वोच्च सेनापति माननीय ज्ञानी जैल सिंह जी की आँखमूद मुहर इसका मुँहबोलता सबूत हैं। 'भारतीय सविधान' मे इस तथ्य को छिपा लिया गया है कि राष्ट्रपति

के पद का सृजन राजसत्ता के अधिनायकत्व पर मखमली पर्दा तानने के निमित्त किया गया है— लोकतत्र की चिंता मे नहीं। जनहित में राष्ट्रपति के ऐस पद की न कल कोई प्रासगिकता थी, न आज है, न आने वाले समय मे होने की गुंजाइश, जो कि अपने आप मे एक अबूझ तिलिस्म की शक्ल लिये हो। जिसक अधिकारो की व्याख्या करन मे सर्वोच्च यायालय तक असमथ हो, उस दश क कराडो – करोड सामान्य जन वैस समझ पायेंग ? लोकतत्र मे जनता के ज्ञान से बाहर की हर वस्तु घोटाला है। जाहिर है कि अपने मौजूदा स्वरूप मे राष्ट्रपति का पद हर हाल मे राजसत्ता के अन्त पुर का पद है। उसका सारा प्रभामण्डल राज्यसत्ता की निर्मिति है। जनता की उसकी शाही सवारी को सिवा बाड से लगकर टुकुर–टुकुर देखन के, और कोई औकात कही नही। इस सारे मामले मे उसकी कुल जमा हैसियत 'देख, तमाशा, देख !' की है।

जिन्हें ऊपर कहे गये मे कुछ शका हो, जो मानते हो कि अभी अभी तो राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार, सर्वोच्च न्यायालय के भूतपूव न्यायमूर्ति माननीय अय्यर जी ने साफ कहा कि राष्ट्रपति को प्रधानमत्री स सूचनाए माँगने का पूरा अधिकार है – उन्हें माननीय वेंकटरमण जी के राष्ट्रपति पद के उम्मीदवार की हैसियत स दिये वक्तव्य के इस अश को ध्यान मे रखना चाहिये – 'किसी भी मामले में सूचना मागने का राष्ट्रपति का अधिकार निरकुशता की श्रेणी मे आ जायेगा। प्रधानमत्री के विरूद्ध कोई कायवाही नही की जा सकती। लोग सविधान मे राष्ट्रपति का ऐसे अधिकार दना चाहते है जिसकी व्यवस्था सविधान के निमाण के समय नही की गई थी। कायवाही करने की जिम्मेदारी ससद की है। सविधान के तहत प्रधानमत्री केवल लोकसभा के प्रति जिम्मेदार हैं। सविधान मे यह नही कहा गया है कि प्रधानमत्री राष्ट्रपति के प्रति जिम्मेदार या उन्हे जवाब देने के लिए बाध्य है। राष्ट्रपति के अधिकार की रखा बाहर से नही खीची जा सकती।

राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री ही यह रेखा खींच सकते हैं।'

राष्ट्रपति जी के उपरोक्त कथन के अंतिम वाक्य को जरा ध्यान से पढ़ा जाय। इससे साफ है कि राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच सम्बन्धों की रेखा खीचने का काम न संसद का है, न संविधान का, बल्कि यह दो व्यक्तियों का निजी मामला है। अर्थात 'कागद की लेखी' और 'आँखिन की देखी' में है कहीं कोई मिलान? सारी खुदाई एक तरफ लेकिन आठवें राष्ट्रपति महामहिम वेंकटरमण जी का इस बात के लिए हमें शुक्रगुजार होना चाहिये कि आज का सच तो उन्होंने कह दिया—कल को कौन जानता है। कल तो उधार का है, और जब पूरा लोकतन्त्र ही उधार का है, तब संविधान के तोतापाठ का क्या है। हालांकि जब संविधान में हो सकता है, तब महामहिम वेंकटरमण की खींची रेखा में संशोधन क्यों असम्भव होगा? और तय है कि वही रेखा हमेशा वही खींचेगा जिसके हाथों में राजसत्ता की नकेल होगी!

राजसत्ता की वास्तविक नकेल किन हाथों में है यह जानना जरूरी है क्योंकि इससे पहले राष्ट्रपति और प्रधानमन्त्री के बीच अधिकारों को लेकर बार बार उपस्थित होने वाले संवैधानिक अटकलों के खेल को समझ पाना असम्भव है।

मामले को समझ से बाहर कर दिये गए होने के कारण ही हमें सवाल उठाने पड़े हैं। हम बिल्कुल उम्मीद करना चाहेंगे कि ज्ञानी लोग हमें हकीकत समझायेंगे जरूर। लोकतन्त्र का असली चितेरा वही है, जो चिढ़ने नहीं, समझाने में निष्ठा रखता हो।

• •

क्या हम जानते हैं

अखबारों में कई बार हमारे सामान्य ज्ञान में बढ़ोत्तरी के दावे के साथ, कुछ घटनाओं अथवा वस्तुओं की झाँकियाँ प्रस्तुत की जाती हैं। बाद में उत्तर, लेकिन पहले इस सवाल के साथ कि—क्या हम जानते हैं? सुनने पूछने और पढ़ने में कितना मामूली सा लगता है यह सवाल, लेकिन ज्योंही इसकी गहराइयों में उतरिए, पहाड़ होता जाता है। दृष्टांत के तौर पर अगर पूछ लिया जाय कि क्या हम जानते हैं कि भारतीय संविधान में क्या क्या, और कि इसका हमारे जीवन से वास्ता क्या अथवा कितना है तो कितने लोग होंगे इस देश में, जिनके दायें हाथ में तुरत जुम्बिश होगी, और वह कंधे से ऊपर उठने लगे?

सम्पूर्ण अथवा सम्पूर्णता में किसी भी वस्तु को कोई नहीं जानता। जो जानता है सारभूत रूप में और कोई ज्यादा, कोई कम जानता है। कहें कि जिसका जितना वास्ता, और जिस स्तर की चेतना, उतना जानता है। संविधान के ज्ञान के प्रसंग में भी सवाल यही मुख्य है कि संविधान से हमारा वास्ता कितना है? तभी यह भी ठीक ठीक जाना जा सकेगा कि संविधान को हमसे कितना लेना देना

है। 'नागरिक' राज्य की इकाई है और संविधान, राज्य व्यवस्था की किताब। इस किताब से नागरिक के जन्म से मरण तक की स्वस्ति के सवाल बंधे हैं और तथ्य में कोई अन्तर इससे नहीं पड़ता कि हम सचाई को जानते हैं या नहीं जानते।

बाबा तुलसीदास ने कहा— हित अनहित पशु पक्षिहु जाना। हित अनहित को जानने बूझने का एक ही रास्ता है। जिससे वास्ता हो उसे जानना। अब अगर देश के निन्यानवे प्रतिशत लोगों का जवाब हो कि हम भारतीय संविधान के बारे में कुछ नहीं जानते, तो माना कि यह सच ही होगा, सच के सिवा कुछ नहीं होगा, लेकिन क्या सचमुच ऐसा ही होना भी चाहिए था?

जो भी इतिहास भूगोल खगोल ज्ञान विज्ञान राजनीति साहित्य अथवा संस्कृति आदि-आदि के विद्वान आज के हालातों का रोना रोते हों, उन्हें इस बात पर ध्यान देना जरूरी होगा कि राष्ट्रव्यापी जड़ता और दिशाहीनता की जड़ें कहाँ, कितनी दूर और गहराई तक फैली हैं। राज्यव्यवस्था के प्रति उदासीन होने से ज्यादा खतरनाक और कुछ नहीं, क्योंकि इसका साया हमारे जन्म की किलकारियों से लेकर मरण के कफन तक को घेरे होता है। हमारा भोजन भजन, चिंतन-मनन, रोना गाना नाचना, कोई कार्य कलाप ऐसा नहीं, जिस पर राज्य व्यवस्था के अंगूठे की दाब नहीं हो। फिर लाख टके की बात कि हमको हो, नहीं हो, राज्य व्यवस्था को हममें से प्रत्येक से वास्ता होता है। वह इतना हिसाब किताब बाकायदे रखती है कि कितने जड़ हैं कितने चेतन।

यह निर्विवाद तथ्य है कि हित छिपाने नहीं बताने की वस्तु है। जो सरकार संविधान को लोकहित के निमित्त ही बतायेगी यह प्रत्येक नागरिक को इतना बताना भी जरूरी समझेगी कि संविधान में उसके हितों की सुरक्षा की पहल तथा व्यवस्था किस किस रूप में की गयी है। क्या-क्या है उसके हित में जरूरी संविधान में इसे बताना सरकार

तथा जानना नागरिकों के लिए बहुत जरूरी है। क्योंकि इस जगत मे प्रत्येक वस्तु के दो छोर हैं। जब तक दूसरा छोर अधरे में तब तक पहले छोर पर रोशनी होने का कोई मतलब नही।

एक छोर पर भारत सरकार है दूसरे पर हम। सविधान का उजाला क्या दोनो छोरो पर समान है ? सत्यमेव जयते' तथा तमसो मा ज्योतिर्गमय' के ताम्रफलको की चमकार वाली भारत सरकार को (भी) इस सवाल का जवाब आज नही, तो कल, कल नही, तो परसो, परसो भी नही तो बरसो के बाद हा सही-देना तो जवाब जरूर ही पडेगा कि जिस देश की नि यानबे प्रतिशत जनता सविधान से अधेरे मे रखी जा रही हो, वहा लोकतन्त्रात्मक समाजवादी गणराज्य के भोपू दसो दिशाओ मे लगाये होन क करिश्मो की हकीकत क्या होगी ?

इसमे क्या शक कि एक स्वाधीन कहे जाने वाले मुल्क म भानमती खुद का पिटारा खुद के इस्तमाल क हिसाब से ही बनाने को स्वतन्त्र मानी जानी चाहिए, लेकिन अगर भानमती डके की चोट पर दावा करे कि उसके पिटारे से हमारे अस्तित्व के सवाल जुडे हैं (और कि पिटारा तो हमारे ही निमित्त अगीकृत-आत्मार्पित हुआ है) तब हमे भी इतना हक बिल्कुल होगा कि पिटारे की एक-एक वस्तु को जाचकर देखें। देखें कि हकीकत क्या है। अब अगर भानमती माथे पर त्योरिया चढाय कि पिटारे को हाथ नही लगाया जाय—या कि लगाया जाय, तो सिफ इतना और इस तरह से ही, जैसे कि भानमती चाहे, तो इसमे कुछ हज नही होगा कि हम भानमती का झोटा कसकर पकड लें और कहे कि ससुरी, ठगविद्या चलाने को एक हम ही रह गय क्या ? क्योकि जो भी वस्तुओ के जाचे जाने में एतराज करे वह हितू कदापि नही हा सकता। हित का तो प्रथम सबक ही जानना है और जान वही सकता है, जो जांच सकता है।

भारत सरकार ने सविधान, यानी अपनी सर्वोपरि किताब, को

हमें इतना तो मानना होगा कि जानने के लिए खुला रखा है। अलबत्ता, राज्य की इस सर्वोच्च किताब को हमारे लिए उजाले की शक्ल देने में उसकी रुचि बिल्कुल नहीं। अगर होती तब वह इस लिखें ईसा पढ़ें मूसा, समझें बाबा आदम के 'बूझो तो जानें' की चुनौती के तौर पर हमारे सामने नहीं रखती। सामान्य नागरिकों की हैसियत से, फिलहाल, हम इतना सवाल खुद ही पूछ लेना चाहते हैं कि क्या हम जानते हैं कि वस्तुओं को अगम्य सिर्फ वही लोग रखना चाहते हैं, जिन्हें सारी चिंता हमें हमेशा हमेशा के लिए अंधेरे में रखने की हो ?

क्या हम जानते हैं कि अगम्यता के लिए पाण्डित्य के इस्तेमाल की योजनाएं सिर्फ वही लोग बनाते हैं, जिन्हें खुद के कारनामों के अंतर्विरोध छिपाने होते हैं ? क्या हम जानते हैं कि हित का सवाल हरहाल में भाषा से बंधा हुआ है ? क्योंकि जो हमारा सचमुच हित चाहता हो वह कभी भी जानबूझ कर ऐसी भाषा का इस्तेमाल नहीं करेगा जो हमारी समझ और पहुंच के दायरे से बाहर हो। सारा स्वाधीनता संग्राम हिन्दी में चलाने के बावजूद स्वाधीनता के तीन वर्षों के बाद अंग्रेज महाप्रभुओं की भाषा में संविधान को रचने से किसकी सम्प्रभुता के रास्ते चौड़े हुए ? भारत की निन्यानबे प्रतिशत अंग्रेजी के ज्ञान से शून्य जनता, या कि अंग्रेजी बकने में निष्णात एक प्रतिशत औपनिवेशिक प्रभुवर्ग की ?

क्या हम जानते हैं कि वाक् और अर्थ एक दूसरे से संयुक्त हैं और ऐसी भाषा का कोई मतलब नहीं हुआ करता सिवा ठगने की भाषा के जिसका अर्थ बूझना हमारे लिए असम्भव हो—फिर चाहे वह अंग्रेजी हो, या कि हिन्दी ? क्या हम जानते हैं कि सिर्फ अंग्रेजी तक ही मामला सीमित नहीं, बल्कि भारत सरकार के द्वारा जो अंग्रेजी के उच्छिष्टानुवाद की भाषा चलायी जाती है उस हिन्दी भाषा को समझना हिन्दीतर प्रदेशों के लोगों की तो कौन कहे, स्वयं

हिन्दी प्रदेशों के विद्वानों के लिए भी पत्थर के आवले चबाना है ? हम भारत सरकार के मार्ग निर्देशन मे रचे गये ऐसे कितने ही दस्तावेजो का हवाला दे सकते हैं, जिनकी भाषा नहीं समझ पाने का कोई अफसोस इसलिए नहीं हुआ कि इतना दावा बिल्कुल किया जा सकता है कि इस अखण्डराष्ट्रीय हिन्दी को समझने मे स्वर्गीय आचार्य रामचन्द्र शुक्ल, आचार्य किशोरीदास वाजपेयी, पण्डित महावीर प्रसाद द्विवेदी, बाबू श्यामसुन्दरदास तथा आचार्य हजारी प्रसाद द्विवेदी जी जैसे हिन्दी के मूर्द्धन्य विद्वानो को तक पसीना छूटते देर नहीं लगती।

चूंकि प्रक्रिया अदालतों की भाषा के सवाल तक जाती है इसलिए यहाँ भी जरूरी होगा पूछना कि क्या हम जानते हैं कि घोषित आजादी के बाद भी देश को गुलाम रखने वालों की भाषा में ही शासन चलाने का सिर्फ, सिर्फ और सिर्फ एक ही मतलब होता है—देश की जनता को हरहाल मे गुलामों की जिन्दगी जीने की नियति मे रखना ? क्या हम जानते हैं कि वास्तविकता मे कौन सा जीवन जी रहे हैं ? हमारी आंखो मे स्वाधीनता की कौंध चमचमाती है, या कि गुलाम मानसिकता के काले धब्बे तरते दिखायी पडते हैं ?

हम फिर जोर देकर कहना चाहेंगे कि जानने को भाषा जरूरी है। क्या हम जानते हैं कि कानून की भाषा को महाकाव्यो की भाषा से भी जटिल बनाने का मतलब क्या होता है ? ऐसे मे यह सवाल कैसे अप्रासंगिक कहा जा सकेगा कि क्या हम जानते है कि संविधान, कायदे कानून तथा न्यायालयो म अगर अपनी भाषा हुई होती, तो न्यायालयों मे हमारी उपस्थिति थके हारे, निरुपाय, निरीह, बेजुबान जानवरो की तरह धक्के खाने की नहीं होती ?

यह एक राष्ट्रीय फजीहत के सिवा कुछ नहीं कि एक ओर हम दावा रखते हैं कि जब हमारे यहाँ नालन्दा विश्वविद्यालय ज्ञान का आलोक फैला रहा था, उस दौर मे इग्लैंड की राजधानी लदन मे

जगली हाथियो का डेरा हुआ करता था। दूसरी ओर अग्रेजी की जूठन हमारी सतानो को जीवन का सर्वोच्च लक्ष्य बनी हुई है। भाषा के मामले मे आज भी हमारी हैसियत ब्रिटिशो के टुकडखोरो से ज्यादा कुछ नही।

क्या हम जानते हैं कि अग्रेजी हमारे लिए ज्ञान विज्ञान के झरोखे खुले रखने के नही, बल्कि स्वाभिमान और चेतना को कुचलने के इरादे मे कायम रखी गई है? क्या हम जानते हैं कि हिंदी ही नही, बल्कि प्रत्येक भारतीय भाषा की औकात अग्रेजी के सामने ठीक वही है, जो कभी गोरा साहबो के सामने उन सदियो के गुलाम हिन्दुस्तानियो की हुआ करती थी, जिनके लिए कि सिविललाइस और क्लबों की तरफ जाती सडको पर 'इडियस एण्ड डाग्स आर नाट अलाउड!' लिखी तख्तियाँ लगा दी जाती थी? क्या हम जानते हैं कि आज भी भारत की राजधानी के अतपुरो, सुप्रीम कोट तथा भारत के प्रधानमन्त्री के इर्द गिर्द अग्रेजी नही जानने वालो की हैसियत इससे दीगर कुछ नही?

क्या हम जानते है कि अपनी तथाकथित आजादी के चालीस साल बाद भी हम इस सचाई से बिल्कुल बेसरोकार हैं कि जो भाषा मे गुलाम हो चरित्र मे भी गुलामो के सिवा और कुछ नही होते?

हमारे सविधान मे स्वाधीनता के सारे बुनियादी सवाल नदारद हैं और यही सविधान को देश के सामान्य नागरिको की पहुँच और समझ से दूर रखने का मुख्य कारण है। क्या हम जानते हैं कि पिछले चालीस वर्षों मे गवनमेण्ट आफ इण्डिया ने भारत को एक ऐसी भयावह तथा शमनाक नियति मे धकेल दिया है, जहाँ अग्रेजी भाषा चूकने वालो की हैसियत ब्रिटिशो से कम नहीं—और अग्रेजी नही जानन वाले करोडो करोड लोगो की औकात न्याय-कानून और रोजी रोटी के भिखमगो की है! अग्रेजी को अपन लगभग सौ वर्षों के एक छत्र शासन काल मे जितना अग्रेज फैला पाये, हमारी भारत सरकार

ने सिर्फ चालीस सालो मे उसके दस गुने से ज्यादा फैला दिया है !

क्या हम जानते हैं कि सविधान में अग्रेजी को अनन्त काल तक को हमारी चेतना पर कालिख की तरह इसलिए पोत दिया गया है कि हम जान ही नही पायें कि शासक वर्ग के लिए अलग तथा शासित वर्ग के लिए अलग भाषा का मतलब औपनिवेशिक प्रभुसत्ता-वाद के सिवा कुछ नही हुआ करता है । और कि औपनिवेशिक शक्तियाँ देश की सरहदो के बाहर ही नहीं, भीतर भी बाकायदा डेरा किये रहती हैं भाषा के माध्यम से !

क्या हम जानते हैं कि 'इडियन कास्टीटयूशन' म जो हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिये गये होने की बात की जाती है, वह शुद्ध सफेद झूठ के सिवा कुछ नही ? क्योंकि दरअसल सविधान ने हिन्द को राजभाषा का दर्जा दिया नहीं गया है, बल्कि दिये जाने का पाखण्ड मात्र रचा गया है ! दरअसल हिन्दी को राजभाषा का दर्जा दिये जाने का सारा काँइयापन अग्रेजी की सम्प्रभुता कायम रखने के इरादे मे है ! हिन्दी को हटाते ही अग्रेजी को भी अग्रेजो की तरह विदा होना होगा—यह रहस्य ही सविधान मे हिन्दी को राजभाषा के दर्जे का झुनझुना थमाने के पीछे की वास्तविक हकीकत है । क्या हम जानते हैं कि जब तक अग्रेजी कायम है, तब तक जनतन्त्र के अस्तित्व मे आने का सवाल ही नही क्योंकि जनतन्त्र सिर्फ जनता की भाषा मे ही सम्भव हो सकता है ?

क्या हम जानते हैं कि हमारा सविधान, अपने चरित्र मे, एक शुद्ध औपनिवेशिक सविधान है ? और कि इस सविधान के ज्यो के त्यो चलन मे रहते भारत की करोडो-करोडो जनता की आर्थिक-सामाजिक मुक्ति का सपना सिवा एक त्रासद दिवास्वप्न के सिवा और कुछ नहीं । क्या हम जानते हैं कि सविधान से बेसरोकारी वैचारिक जडता का सूचक हुआ करती है, क्योंकि सविधान हमारे सामाजिक जीवन की सबसे जरूरी किताब है ! धर्मग्रन्थो से भी जरूरी ! •

क्योंकि आत्मा का वह सारा आलोक व्यर्थ है, जो हमारे दैनंदिन जीवन का तमस नहीं छांट सके। क्या हम जानते हैं कि 'कांस्टीच्यूशन ऑफ इण्डिया' हमारे सामाजिक जीवन का प्रकाशस्तम्भ बनने की जगह एक ऐसे अभेद्य तिलिस्म की शक्ल क्यों लेता गया है, जहाँ हम करोडों-करोड सामान्य हिंदुस्तानियों के लिए आपातकाल का अंधा कुप्प चाहे जितना अंतभूत हो, किन्तु सामाजिक स्वाधीनता की रोशनी के चिह्न पूरी तरह अंतर्धान हैं ?

● ●

आदमी और कानून

कानून व्यवस्था का आधारग्रंथ है–संविधान। यहाँ हम आदमी और कानून के बीच के सम्बन्ध का सवाल इसलिए उठा रहे हैं, ताकि देखा जा सके कि संविधान मे स्थिति क्या है।

किसी भी कार्य में हित का सवाल ही मुख्य हुआ करता है। कानून इसका अपवाद नहीं। संविधान राज्य व्यवस्था का आधार होता है। नागरिकों को संविधान मे उत्कीर्ण जनहित के स्वरूप को जाचते चलना जरूरी है, ताकि इस बुनियादी सवाल पर आलोक बना रहे कि संविधान मे किसके हित को केन्द्र में रखा गया है–पूरे समाज या कि सिर्फ राजपत्र के।

कहना जरूरी न होगा कि हमारा मौजूदा संविधान (या कह लें कि इसका मौजूदा स्वरूप) समाज के हित को केन्द्र मे रखे गये होने की कोई गवाही नही देता। परिणामस्वरूप मौलिक अधिकारों को तुमुल निनाद मे प्रतिभूति (गारण्टी) देने वाले संविधान मे ही मौलिक अधिकारों की कब्र खोदने के न जाने कितने प्रावधान मौजूद हैं। यहाँ विस्तार में जाने की गुंजाइश नही होने से, सिर्फ एक 'जानने का मौलिक अधिकार' का ही दृष्टांत काफी होगा। जानने को नाग

रिक का मूलभूत अधिकार घोषित करने वाले संविधान में विशेष अनुमति याचिका संबंधी अनुच्छेद के अंतर्गत यह प्रावधान कर दिया गया है कि किसी भी मामले में, अंततः, न्यायाधिकारियों का विवेक ही सर्वोपरि है। इस विवेकाधिकार की कोई सीमा नहीं। यह तर्क और सवालों से ऊपर है। इसमें यहाँ तक स्वच्छंदता है कि किसी वि अ याचिका या समादेश याचिका को क्यों निरस्त किया जा रहा है, यह बताना, या न बताना भी सम्बद्ध न्यायाधीश के विवेक का प्रश्न है। सिर्फ इतना ही फैसला भी पूरी तरह संवैधानिक माना गया है कि—याचिका निरस्त की जाती है।

शब्द अपना अर्थ स्वयं बोलता है। विवेकाधिकार में भी 'विवेक' की उपस्थिति प्रथम है 'अधिकार' की बाद में, किंतु जब किसी न्यायाधीश के द्वारा कारण बताये जाने से साफ इंकार हो, तो साफ है कि सिर्फ पदाधिकार प्रयुक्त हुआ, विवेक नहीं।

क्या इसमें कोई विवाद हो सकता है कि आदमी का हित कारण जानने में ही निहित है। उसकी सारी सकारात्मक उपलब्धियाँ कारण जानने के उपक्रम से ही जुड़ी हैं। आग हवा पानी मिट्टी पत्थर लोहा लक्कड़ से लेकर आकाश-पाताल तक की सारी वस्तुओं का कारण जानने के अथक अनवरत संघर्ष ने ही उसे ज्ञान विज्ञान की निधियों से सम्पन्न बनाया है। ऐसे में स्पष्ट है कि कारण बताने से इंकार प्रकारांतर से मनुष्य के जान सकने का रास्ता रोकना है।

न्याय मनुष्य के जीवन का सर्वोपरि तत्व है। न्याय करते में कारण बताने से इंकार का अर्थ न्याय की संभावना को ही ध्वस्त करना है। अफसोस के साथ कहना पड़ता है कि 'भारतीय संविधान' में न्याय से साफ-साफ इंकार का प्रावधान बाकायदे मौजूद है। समझना मुश्किल है कि जब किसी याचिका या मामले को निरस्त क्यों किया जा रहा है, यह बताने की कोई जरूरत ही नहीं हो, तब न्याय या कानून की प्रासंगिकता ही क्या रह जाती है?

हालांकि इस संदर्भ में कई बातें हम सिलसिलेवार उठाना चाहेंगे, क्योंकि कानून और न्याय हमारे सामाजिक जीवन के अत्यन्त गहरे महत्त्व के सवाल हैं, लेकिन इतना कहना जरूरी लगता है कि मनुष्य एक गतिमान तथ्य है। चूँकि वस्तुएँ उसकी चेतना से जुड़ी हैं, इसलिए उसकी चेतना के वृत्त से बाहर, या ऊपर होते ही प्रत्येक वस्तु निरर्थक ही नहीं बल्कि घातक भी हो जाती है। संविधान इस नियम का अपवाद नहीं। संविधान के प्रति निष्ठा की बुनियादी मांग अर्थात् मोदन की नहीं चेतनासम्पन्न जागृत नागरिकों के रूप में हित के हर सवाल पर निरंतर बहस जारी रखने की ही हो सकती है, क्योंकि—वादे वादे जायते तत्वबोध।

कारण बताने से इंकार खुद के स्वच्छाचार और मठ पर बहस को बचाने की चालाकी के सिवा कुछ नहीं। इतना हर कोई जानता है कि विधि में युक्तिसंगतता का प्रश्न सबसे प्रथम है और कारण नहीं बताना युक्तिसंगतता पर मिट्टी डलोचन के सिवा कुछ नहीं।

भौतिक जगत में प्रत्येक वस्तु का कारण स्वयंसिद्ध है। ज्ञान विज्ञान के सारे सोपान कारणों पर टिके हैं। ज्ञान का प्रथम आधार ही यह है कि अकारण कुछ नहीं। विवेक का भी कारण हुआ करता है। विवेक की पहली मांग कारण की होगी। ऐसे में विवेकाधिकार का उपयोग कारण बताने से इंकार की छूट के रूप में करना सिवा कानूनी धूर्तता के और क्या है? अफसोस कि विधि एवं न्याय की हत्या का यह प्रावधान हमारे संविधान में पूरी निलज्जता से अंतर्भूत है। और अगर खिचड़ी के दो चार चावलों से ही उसकी परीक्षा सम्भव है, तब संविधान के ऐसे अंतछिद्रों का उल्लेख किस तर्क से निषिद्ध माना जा सकेगा, जो कि स्वयं उसके ही घोषित सिद्धांतों की मिट्टी पलीद करते हों?

उपरोक्त विवेचना में जाने का कारण, दरअसल, यह देख सकने

की जिज्ञासा ही है कि हमार सविधान क मन्त्र म किसका हित मुख्य है—देश और समाज, या कि सिर्फ राज्यतत्र का? स्पष्ट है कि कारण बतान स इकार का प्रावधान सिर्फ राज्यतत्र क निहित स्वार्थों की सुरक्षा म ही परिकल्पित तथा विधिमण्डित किया गया है। मनुष्य का हित कारण क बताय जान पर निभर है। लोकतत्र का सर्वाधिक हितकारी व्यवस्था कहन क पीछ मुख्य तक ही यह है कि उत्तरदायी शासन म नागरिका का हित का प्रत्येक सवाल उठान का अधिकार रहेगा और सम्बद्ध अधिकारी का यह नैतिक ही नहीं वरन् सहज विधिक दायित्व होगा कि जवाब द। यानी कारण बताय।

कारण चेतना का प्रथम प्रत्यय है। जो कारण बताने से इकार करे वह मनुष्य की चेतना का प्रथमशत्रु है, चाहे वह न्यायाधीश क पद पर ही क्यो न बैठा हो। क्योंकि न्याय का तो सारा विधान ही चूकि कारणा क निर्धारण पर टिका है, इसलिए न्यायकर्त्ता का तो दायित्व ही यह है कि कारण बताये। इस सिवा एक अभिशाप क और क्या कहा जाय कि हमारा सविधान न्यायाधिकारियो को कारण नही बताने क लिए बाकायदा अधिकृत ही नही, बल्कि उत्प्रेरित भी करता है। कौन नही जानता कि छूट रखना ही छूट देना है।

जब सर्वोच्च न्यायालय मे ही किसी भी महत्त्वपूर्ण याचिका को बिना कोई भी कारण बताये सिर्फ पदाधिकार क तहत निरस्त कर दिये जाने का प्रावधान मौजूद हो, तब जानने क मूलभूत अधिकार का दावा स्वत ही एक सफेद झूठ सिद्ध हो जाता है। इस तथ्य की ओर इगित करना इसलिए जरूरी लगा कि यह कारण नहीं बताने का सिलसिला राज्य व्यवस्था के छोटी से लेकर बडी तक के राज्याधिकारियो के निद्व द्व इस्तेमाल का साधन बना हुआ है। इस तर्कातीत, अपनी प्रकृति म ही गैरकानूनी कानून का इस्तेमाल सामान्य जनों की चेतना को कुचलने के काम आ रहा है। सविधान मे ही मनुष्य की चेतना को कुचलने की छूट का होना देश के लिए अभिशाप है। इस

गम्भीर राष्ट्रीय महत्त्व के सवाल पर विधिवत बहस जरूरी है, क्योंकि एक चेतनासम्पन्न समाज की नींव ही इस बात पर टिकी होती है कि लोगों को जानने का अवसर सुलभ रहे।

दुचित्तापन सबसे बड़ी बाधा है। भारतीय संविधान में यह दुचित्तापन एक नहीं अनेक जगह व्याप्त है और यह कारण है कि इसके सर्वोच्च शिल्पी प्रकाण्ड विधिवेत्ता डा० भीमराव अम्बेडकर को स्वयं आशंका प्रकट करनी पड़ी कि संविधान का दुरुपयोग भी हो सकता है। जबकि इतना तो वो स्वयं भी भली भांति जानते रहे होंगे कि किसी वस्तु का दुरुपयोग होना अलग बात है और वस्तु के दुरुपयोग के अवसर खुले रखना बिलकुल दूसरी।

हमारे संविधाननिर्माताओं के दुचित्तेपन का भी कारण है और वह समझदारों के सामने हाथ में के आवले की तरह स्पष्ट है। जानने के अधिकार को मूलभूत अधिकार मानने से इंकार करते ही संविधान की शक्ल तानाशाही संविधान की निकल आती है—और इस अबाधित मूलभूत अधिकार के रूप में संविधान में अंतर्ग्रथित करने की अनुमति राज्यतंत्र के अधिष्ठाताओं की ओर से नहीं—इस दुचित्तेपन में ही जानने के अधिकार को मूलभूत अधिकारों की श्रेणी में रखा तो गया मगर तंत्र के निहित स्वार्थों के आड़े आने पर इसे बाधित किये जा सकने का चोर दरवाजा भी अत्यंत चतुराई से साथ बाकायदे रख छोड़ा गया। 'विशेषाधिकार' इसी चोर-दरवाजे का विधिमण्डित नामांकन है। साफ है कि राज्यतंत्र के हक में रख छोड़े गये इस चोर दरवाजे का इस्तेमाल कोई भी राज्याधिकारी जब चाहे, पूरी तरह निःशंक तथा निरकुंश भाव से कर सकता है। मांगे जाने पर इस बात के एक नहीं, अनेक दस्तावेजी सबूत देने का हम वादा करते हैं।

इतना हम पुनः दोहराना चाहेंगे कि सवाल करना ही वास्तव में सम्मान करना है। हम जिस व्यक्ति को जितना सम्भ्रान्त, विद्वान या

बुजुग मानते हैं उसस उतन ही गहरे सवाल बार बार करते हैं। सवाल से सिफ वही बिदकते हैं, जा चेतना को कुचलने का इरादा रखते हो।

सविधान सवालो से ही गतिमान हो सकता है, अधानुमोदन स नही। विवेकाधिकार को सवाल से ऊपर ले जाना कानून को आदमी से ऊपर ल जाने की साजिश के सिवा कुछ नही। आदमी और कानून के बीच का सम्बन्ध नतिक रूप म वही समाप्त हा जाता है, जहाँ कानून आदमी से बडा हो जाय। इसके बाद कानून राज्यतत्र के स्वच्छाचार का हथियार मात्र रह जाना है और लोकतत्र म यह बहस जरूरी है कि कही एसा ही तो नही हा रहा है।

८ ●

कानून का राज्य

स्वाधीनता के न चार दशकों में क्या कभी इस सवाल मे भी गये हम कि आखिर सरकार को बार-बार यह दोहराने की जरूरत क्यो पडती रहती होगी कि 'जब तक जनता सहयोग नही करेगी, सिफ कानून बना देने से कुछ नही होगा ?' अभी सतीप्रथा निरोधक अधिनियम की बहस के दौरान भी सरकार को अत्यत गभीर रूप मे यही चिंता प्रकट करनी पडी कि कानून तो हम बनाये दे रहे है, लेकिन जब तक खुद जनता मे सामाजिक जागृति नहीं आएगी, सिफ कानून बना देने से कुछ नही होगा। यानी जब तक जनता सरकार का हाथ बँटाने को आगे नही बढेगी, कानून अपना प्रभावी परिणाम दिखा नही सकेगा।

सरकार का कहना सिर माथे लेकिन अगर इस सवाल म जाएँ कि 'जब तक जनता सहयोग नही करेगी' कहकर हमारी सरकारें दरअसल कहना क्या चाहती हैं, तो कई दिलचस्प, लेकिन उतने ही नुकसानदेह नतीजे सामने आयेंगे, क्योकि सरकार की चिंता से एक ध्वनि यह भी निकलती है कि कानून को अमल मे लाने की नैतिक (अथवा सामाजिक) जिम्मदारी जनता पर भी उतनी ही आयद

होती है, जितनी सरकार पर। सरकार अपनी यह सदाशयता झलकाती भी साफ दिखाई पडेगी कि वह कानून को अमल मे लाने के काम मे नागरिको से भी बराबर की साझेदारी चाहती है। यह प्रकारांतर से प्रशासन में जनता की भागीदारी के अवसर उत्पन्न करना है। यानी कानून का राज्य चलाने की अवधारणा मे जनता के साझे मे राज्य चलाने की आकांक्षा मौजूद है, किंतु व्यावहारिक कठिनाई है यह कि अगर जनता ही साथ नही दे, तब सरकार लाख चाहने पर भी कानून का पालन कैसे करा सकेगी ?

जाहिर है कि जनता पर (भी) कानून को अमल में लाने की जिम्मेदारी आयद करने की इस सदाशयता के पीछे शुद्ध राजनीतिक काँइयापन के सिवा और कोई कारण मौजूद नही, क्योंकि कानून को अमली जामा पहनाने की पूरी पूरी जिम्मेदारी भी उसी पर है, जिसने कानून बनाने का काम हाथो मे ले रक्खा हो। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका, ये एक ही तंत्र के अलग-अलग अंग हैं, और कानून बनाने से लेकर, उसके अनुसार शासन चलाने तक की सारी जिम्मेदारियाँ इन पर ही आयद होती है। कानून को चलाना जनता का काम नही है। अब यही हम यह जरूरी सवाल पूछना जरूर चाहेंगे कि सरकार आखिर और किस मर्ज की दवा है, अगर कि कानून को अमल में लाने, यानी कानून का राज्य चलाने का काम संभालने, में ही उसकी नानी मरती हो ? बडे बडो का उनके बाप की भी नानी याद दिला देने वाले प्रधानमन्त्री का यह तर्क कितना मासूम है कि सिर्फ कानून बना देने से ही। क्या होगा ?

हकीकत कुछ और है। जितने या जिस तरह के, कानून अपनी गद्दी कायम रखने को जरूरी हो, उनको अमल मे लाने मे सरकार ने आज तक कोई कोताही नहीं बरती है, लेकिन जहाँ कानून को अमल में लाने से सामाजिक जागृति और सुरक्षा तो संभव हो, किंतु वोट की राजनीति को जोखिम, वहाँ कानून को सुरक्षा के पहलू से तुरंत

जनता के मत्थे झाड फेंकने मे सरकार का कुछ दर्द नहीं [गद्दी] कायम रखने को चुटकियो मे आपात्स्थिति लागू कर देने मे समर्थ सरकार का सती प्रथा, बेगारी, बधुआ मजदूरी, साम्प्रदायिकता से लेकर उठा ईगीरी तक के हर सामाजिक महत्व के मामले म सिफ कानून बना देने से क्या होगा ? की चिंता मे व्याकुल दिखाई पडना, किस बात का सबूत माना जाय ?

बाबा तुलसीदास 'समरथ को नही दोष गुसाई' यो ही नही कह गय। कठपडितो के कोप से बचन को शम्बूक का वध करने का पातक मोल लेते प्रभु राम तक की दुदशा को देखा, तब कहा। राज्य की बुभुक्षा कसे करुणामय कहे गये प्रभु की सवेदना तक को मार देती है, इस चेतना मे ही तुलसीदास ने आखिर आखिर राम को बख्शा नहीं। कवि के हाथ इससे अधिक कुछ होता भी नही कि वह मनुष्य के भीतर के औदात्य और राज्य के चरित्र की सीमाओ को दश्यमान कर दे।

जब भारत का प्रान्तो के मुख्यमन्त्रियो तक को छिगुली पर नचाने वाला सवसमथ प्रभुसत्ताधीश प्रधानमत्री तक यह विनय और विवशता प्रदर्शित करता दिखायी पडे कि सिफ कानून बना देने से क्या होगा, तब उससे यह सवाल पूछना भी जरूरी होगा कि सिफ कानून बनाने के लिए ससद की तो जरूरत हो सकती है, लेकिन सरकार की जरूरत क्यो होगी ? जो सरकार- कहे कि कानून तो अमल में सिफ तभी लाय जा सकते हैं जबकि जनता इन्हें लागू और चरिताथ करने मे हाथ बटाय उसे इस सवाल का जवाव भी देना जरूर चाहिए कि सिफ जनहित के कानूनो को अमल में लाने मे ही सरकार खुद को इतना निकम्मा और नाकाबिल क्यो अनुभव करती है ?

'सिर्फ कानून बना देने से क्या होगा' कहना दरअसल कानून को मर्जी के अनुसार बरतना ही है। जहा हमे जरूरी होगा, कानून को

होती है, जितनी सरकार पर ! सरकार अपनी यह सदाशयता झलकाती भी साफ दिखाई पड़गी कि वह कानून को अमल मे लान के काम मे नागरिको से भी बराबर की साझेदारी चाहती है। यह प्रकारातर से प्रशासन म जनता की भागीदारी के अवसर उत्पन्न करना है। यानी कानून का राज्य चलाने की अवधारणा मे जनता क साझे मे राज्य चलाने का आकाक्षा मौजूद है, किंतु व्यावहारिक कठिनाई है यह कि अगर जनता ही साथ नही दे, तब सरकार लाख चाहने पर भी कानून का पालन कस करा सकेगी ?

जाहिर है कि जनता पर (भी) कानून को अमल मे लाने की जिम्मेदारी आयद करने की इस सदाशयता के पीछे शुद्ध राजनीतिक काइयापन के सिवा और कोई कारण मौजूद नही, क्योकि कानून को अमली जामा पहनाने की पूरी पूरी जिम्मेदारी भी उसी पर है, जिसने कानून बनाने का काम हाथ मे ले रक्खा हो। विधायिका, कार्यपालिका और न्यायपालिका मे एक ही तत्र के अलग अलग अग हैं, और कानून बनाने से लेकर, उसके अनुसार शासन चलाने तक की सारी जिम्मेदारियाँ इन पर ही आयद होती हैं। कानून को चलाना जनता का काम नही है। अब यही हम यह जरूरी सवाल पूछना जरूर चाहेंगे कि सरकार आखिर और किस मज की दवा है, अगर कि कानून को अमल मे लाने, यानी कानून का राज्य चलाने क काम सभालने, में ही उसकी नानी मरती हो ? बड़े बडो को उनके बाप की भी नानी याद दिला देने वाले प्रधानमन्त्री का यह तक कितना मासूम है कि सिर्फ कानून बना देने से ही। या होगा ?

हकीकत कुछ और है। जितने, या जिस तरह के, कानून अपनी गद्दी कायम रखने को जरूरी हो, उनको अमल मे लाने मे सरकार ने आज तक कोई कोताही नहीं बरती है लेकिन जहाँ कानून को अमल में लाने से सामाजिक जागृति और सरदा तो समय हो, किन्तु वोट की राजनीति को जोखिम वहाँ कानून को सुर के पल्लू से तुरत

जनता के मत्थे फाड फेंकने मे सरकार का कुछ देर नहीं ''गद्दी कायम रखने को चुटकियों मे आपातस्थिति लागू कर देने मे समय सरकार का सती प्रथा, बेगारी, बंधुआ मजदूरी, साम्प्रदायिकता से लेकर उठा ईगीरी तक के हर सामाजिक महत्त्व के मामले म सिफ कानून बना देने से क्या होगा ? की चिंता म व्याकुल दिखाई पडना किस बात का सबूत माना जाय ?

बाबा तुलसीदास 'समरथ को नही दोष गुसाईं' यो ही नही कह गय। कठपडितो के कोप से बचने को शम्बूक का वध करने का पातक माल लेते प्रभु राम तक की दुदशा को देखा, तब कहा। राज्य की बुभुक्षा कसे करुणामय कहे गये प्रभु की सवेदना तक को मार देती है, इस चेतना मे ही तुलसीदास ने आखिर आखिर राम को बख्शा नही। कवि के हाथ इससे अधिक कुछ होता भी नही कि वह मनुष्य के भीतर के औदात्य और राज्य के चरित्र की सीमाओ को दृश्यमान कर द।

जब भारत का प्रान्तो के मुख्यमन्त्रियों तक को छिगुली पर नचाने वाला सवसमय प्रभुसत्ताधीश प्रधानमन्त्री तक यह विनय और विवशता प्रदर्शित करता दिखायी पड कि सिफ कानून बना देने स क्या होगा, तब उससे यह सवाल पूछना भी जरूरी होगा कि सिफ कानून बनाने के लिए ससद की तो जरूरत हो सकती है, लेकिन सरकार की जरूरत क्यो होगी ? जो सरकार- कहे कि कानून तो अमल मे सिफ तभी लाय जा सकते हैं जबकि जनता इन्हें लागू और चरितार्थ करने मे हाथ बटाय उसे इस सवाल का जवाब भी देना जरूर चाहिए कि सिफ जनहित के कानूना को अमल में लान मे ही सरकार खुद को इतना निकम्मा और नाकाबिल क्या अनुभव करती है ?

'सिर्फ कानून बना देने से क्या होगा' कहना दरअसल कानून को मर्जी के अनुसार बरतना ही है। जहा हम जरूरी होगा, कानून को

बरतेंगे और अमल म लायेंगे और जहा वोट की राजनीति खेलनी होगी, या जनता को बेवकूफ बनाये रखना होगा, वहाँ कानून को सिफ बनाकर ही हाथ पीछे समट लिय जायेंगे—इससे ज्यादा राज्य का मनमानापन और क्या हो सकता है ?

सती प्रथा का कलक समाज क माथे से कभी नही मिटाया जा सकेगा क्योंकि जनता मे सामाजिक जागृति नहीं । दस्यु उ मूलन की हनुमतपुच्छ जैसी अनत योजनाओ का भी कभी अमली जामा नही पहनाया जा सकेगा, क्योकि जनता कानून का साथ नहीं द रही। पजाब मे आतकवाद का मिटना असभव होता जा रहा है, क्योंकि जनता आतकवाद का मुकाबला करने को आग नही आ रही। बकारी बेहाली की कोई समस्या हल नही होगी क्योकि जनता हाथ आगे बढाने म कजूसी कर रही है। ऐसे म सवाल पैदा होता है यह कि जब सारे काम आखिर-आखिर जनता का ही करन जरूरी हैं, तब जनता के खून-पसीने की कमाई को पचसितारा होटलो की अय्याशियो और शाही आरामगाहो म फूकन वाले हाकिमो हुक्कामो तथा हुजूरा गरीबपरवरो की ऐसी अवण्डराष्ट्रीय जरूरत क्या है इस देश को जोकि कानून को सिफ बनाने की चीज समझते हों, जनहित म बरतन की नही !

आदमी की वदना को गाली या मखौल समझना ठीक नहीं। अगर कोई सरकार कानून को सिफ बनाने की वस्तु घोषित करे, तो उसका गरबान पकडकर पूछने का हक जनता को भी है कि जो सुसुरी बलने का सिफ हाथ म पकडने की चीज समझनी हो, रोटी बलने की नहीं, वह चूल्हे चौके म महरानिन का रुतबा क्यो फिरे ? हम कोई नयी बात नहीं कर रहे हैं। कालातर म भी राज्य की बेहयाई म उत्पीडित जनता न नाना प्रकार क किस्स दृष्टात गढकर ही स्वय को सात्वना दने की युद्ध कोशिश की है क्योकि इसमे कोई सन्देह नहीं कि जिस देश मे सामाजिक जागृति नदारद हो वहा की जनता को अपनी

हो जूती से मत्था पुजवाना, और इसे ही लोकत त्र कहना पडता है। अ यथा राज्य की उत्पत्ति का तो आधारभूत सिद्धात ही यह है कि जनहित मे कानून बनाने और उन्हे अमल मे लाने वाला तत्र।

राज्य की एकमात्र प्रासगिकता विधि के सम्यक् निर्माण और परिपालन मे है। जो राज्यव्यवस्था इसमे अक्षम हो, या इससे कन्नी काटे, वह कानून का राज्य कभी कायम नही कर सकती। हमारी मौजूदा राज्य व्यवस्था का चरित्र यही है। उसकी एकमात्र चिंता और सारी मशक्कत राज्य का कानून जनता के मत्थे थोपे रखने की है। कानून के राज्य की अवधारणा सिर्फ सविधान के पृष्ठो पर उद्घोषणा की वस्तु है क्योकि कानूनो को अमल म लाने की सारी प्रक्रिया वोट की राजनीति यानी गद्दी के पाया के हिसाब से तय होती है।

विपक्ष के जुझारू मोर्चे भी कानून के राज्य का हवाला सिर्फ तभी तक देते हैं जब तक वो खुद गद्दी तक नही पहुच जायें। इसीलिए बोफास फयरफैक्स काण्डा की धल से समद का ढँक दन मे समथ नाना प्रकार के जुझारू विपक्षी मोर्चामार्गियों ने भी यह सवाल कभी आज तक भूलकर भी नही उठाया कि जिन कानूनो को अमल मे नही लाया जाना ह, उनका बनाया जाना सविधान और जनता, दोनो के साथ धोखाधडी है।

● ●

सविधान हमारे जीवन की किताब

देश के नागरिकों का कितना प्रतिशत होगा, जो 'सविधान' का सरकारी इस्तेमाल की जगह स्वय के हक हकूक की किताब के रूप में देखे ? जिसे इतना बाकायदे समझ हो कि 'सविधान' सरकारी तत्र को तिरगी पोथी नहीं बल्कि हमारे सामाजिक जीवन की सबसे जरूरी किताब है ? यह हकीकत है कि एक बार का पूजाघर के धर्मग्रन्थों से कोई वास्ता नहीं रखने मे कोई हर्ज नहीं, मगर सविधान से बेसरोकारी का मतलब अपने इर्द गिर्द अँधेरा इकट्ठा रखना ही होगा।

राज्य यवस्था मे उदासीन लोग ही चेतन समाज की जगह जड सम्प्रदायो की बुनियाद बनते हैं। लोगो मे इस बात की चतना होनी चाहिये कि हम रोटी से पहले नही भी सही, तो कम स कम साथ साथ या आगे पीछे सविधान को भी उलट पलट कर देखेंगे जरूर, क्योकि यही वह किताब है जिसकी आयतें हमारी रोटी की किस्म और चूल्हे की आँच तक को प्रभावित करती हैं। जिस समाज मे स्वय के विपरीत सविधान को कूड़ाघर के सिपुर्द करने की क्षमता नहीं हो, उसे इक्कीसवीं सदी में ले जाना भेडों के झुण्डों को इक्कीसवीं सदी मे पहुँचाने के सिवा और कुछ नहीं, क्योंकि जहाँ तक समाजनिरपेक्ष

काल का प्रश्न है, किसी भी अगली शताब्दी मे सिर्फ आदमी नहीं पहुचता—भेडें भी साथ साथ जाती हैं।

आदमी की पहचान ही इसमे है कि वह किसी भी देश काल मे किस हैसियत से रहता है। भेडें अपराधी नही, वा अपना जीवन जीती हैं, किन्तु वह व्यक्ति एक गम्भीर सामाजिक विकृति है, जो भेडो की तरह जीता है। वह राज्य बर्बर और आततायी है, जो लोगो को भेडो की नियति मे कैद रखना चाहे। चेतन समाज की पहली जिज्ञासा राज्य के चरित्र को जानने की होगी और इसके लिये सविधान' को पहचानना जरूरी होगा।

हर वस्तु के दो छोर हैं। सविधान के भी। सविधान को जानने का मतलब उसका तातापाठ नहीं। ज्ञान का एक छोर किताबी, दूसरा क्रियात्मक है हमारे अनेक बड़े बड़े सविधानवेत्ता 'भारतीय सविधान' के सिर्फ किताबी विशेषज्ञ हैं, क्योंकि ये सविधान को देश-काल के सदर्भ मे रखकर देखने के विवेक से शून्य हैं। इनकी सविधान मार्तण्डता देश के सामान्य जनो के किसी काम की नहीं। सविधान इनके लिये खुद के धधे की किताब है और ज्ञान जब धधा बनकर रह जाय, तब अधेरा और बढ़ाता है। ये नहीं जानते कि जो समाज के काम नही आ सके ऐसा ज्ञान विल्ली का गू है। इन सविधानवेत्ताओं की कोई सकारात्मक सामाजिक भूमिका नही। यायतत्र के अभयारण्य मे विचरते सफेद हाथी हैं ये। इनका कानूनी कठज्ञान किताबी लीद है। ये इस देश के सामान्य जन के किसी काम के नही। य सविधान मे देश के सामान्य जनो के हितो की रक्षा के बुनियादी सवाल कभी नहीं उठायेंगे। ऐसे मे चाहे जब सद्‌बुद्धि आये, स्वय के हित के सवाल, आखिर-आखिर, हमे खुद ही उठाने होगे।

यह भौतिक जगत वस्तुओं का पुज है। आदमी और सविधान भी वस्तु हैं किन्तु जानने की चेतना सिर्फ आदमी मे होने से 'जानता'

सिफ वही है। सवाल जांच पड़ताल और छान-फटक,ये जानने के अपरिहार्य अग हैं। सारे ज्ञान विज्ञान आदमी के इसी जानने के अनवरत उद्यम की उपज है। आदमी वस्तु को खुद के ज्ञान की परिधि मे ल ये बिना कभी नही बरतता। जो बरतता हो, वह मूढ है। चेतन लोग जिस वस्तु को रूप म नही जानत उसे भी परिणाम से जाँचते हैं। कोई जरूरी नही कि हमने सविधान का पाठ किया हो। सविधान कोई स्वकेंद्रित वस्त नहीं। उसका क्रियात्मक क्षेत्र अत्यन्त विशद है और जैसा कि पहले भी कहा, उसके स्पर्श हमारे चूल्हो की आँच तक व्याप्त हैं।

वस्तु के रूप और उसके क्रिया वयन की प्रक्रिया को भी जानना ज्ञान का उच्चतर सोपान है,किन्तु हर विषय का विशद ज्ञान असम्भव है। सविधान के रूप और उसकी प्रक्रिया का विशद ज्ञान सिफ उन्हें ही सम्भव है जा इसमे अपना ध्यान खपाते हो,किन्तु वस्तु की अतिम कसौटी है—परिणाम ! 'भारतीय सविधान' अब तक म लगभग चार दशक पुराना हो चुका और नतीजे समाने हैं। ये नतीजे सकारात्मक हो तब हमे कुछ नही कहना,कि तु अगर नकारात्मक हों—जो कि हैं ही—तब देखना जरूरी होगा कि खोट कहाँ है। सविधान मे या कि सविधान को निर्मित आत्मार्पित और व्यवहृत करने वालो के चरित्र म ? हम सविधान पर इसी प्रसग म बात करना चाहग । फिलहाल सिफ उस एक वाक्याश को लेकर जो कि सविधान का केन्द्रीय तत्व है।

राज्य और कानून समाज की सुचारु व्यवस्था की सकल्पना की उपज हैं। सविधान कानून की केन्द्रीय पुस्तक है। चूंकि राज्य समाज की उत्पत्ति इसलिये सविधान भी एक सामाजिक वस्तु है। वस्तु का इस्तेमाल आदमी करता है। ऐसे मे,देखना जरूरी होगा कि सविधान का इस्तेमाल कौन लोग कर रहे हैं। यानी कि सविधान के पीछे का इरादा क्या है और अगर इरादा सही है, तो परिणाम उलटे

क्यो निकल रहे हैं। 'भारतीय सविधान' की निर्मिति का घोषित इरादा इस प्रकार है—

> हम भारत के लोग, भारत को एक सम्पूर्ण प्रभुत्वसम्पन्न लोकतन्त्रात्मक धम निरपेक्ष समाजवादी गणराज्य बनाने क लिए तथा उसके समस्त नागरिकों को सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय, विचार, अभिव्यक्ति, विश्वास, धम और उपासना की स्वतन्त्रता, प्रतिष्ठा और अवसर की समता प्राप्त कराने के लिए, तथा उन सब मे व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की एकता और अखण्डता सुनिश्चित करने वाला बधुता बढाने के लिए दृढ सकल्प होकर अपनी इस सविधान सभा मे आज तारीख २६ नवम्बर १६४६ ई० को एतदद्वारा इस सविधान को अगीकृत अधिनियमित और आत्मार्पित करत है।

साफ है इरादे के घोषित रूप मे कही कोई खाट नही सिवा एक इस अन्त छिद्र क कि भारत के लागो की तरफ से हम उनके प्रतिनिधि' की जगह हम भारत के लोग कहा गया है। दखने म यह निहायत छोटी,लेकिन गूढाय मे अत्य त ही महत्व की बात है। दरअसल भारत के लोगो की तरफ से हम उनके प्रतिनिधि' की जगह हम भारत के लोग कहकर, भारत के सार जन गणो का एकाधिपत्य कांग्रेसी हुकूमत के अलम्बरदारो मे अन्तर्भूत कर लिया गया। भाषा कोई मखौल नही।

भाषा सबसे बडी और सबसे कठिन वस्तु है, क्योंकि जानने का सबसे सुलभ और अचूक साधन यही है। क्या हमारा ध्यान कभी इस बात पर गया और हमने जानने की कोशिश की कि 'हम भारत के लोग' से आशय किन लोगो से है? क्योंकि यह तो तय है कि सविधान भारत के तमाम लोगों के द्वारा नही, बल्कि उनके निमित्त कुछ एस लोगो के द्वारा निर्मित, अगीकृत, अधिनियमित तथा आत्मार्पित किया

गया, जो उस दौर मे देश का राजनैतिक प्रतिनिधित्व कर रहे थे। ऐस मे स्पष्ट है कि या तो हमारे सविधाननिर्माताओ को इस बात की कोई चेतना ही नही थी कि भाषा को हमेशा उसके वस्तुगत अर्थ मे ही बरता जाना चाहिए—और या वे जानते थे कि खुद के छद्म पर भाषा का आवरण कैसे डाला जा सकता है।

लेकिन चलिए अगर मान लें कि इरादे म कोई खोट नही था तो देखें जरा कि परिणाम क्या निकला। क्या 'हम भारत के लोग' कहते क्या वास्तव मे सामाजिक, आर्थिक और राजनैतिक न्याय के समान भागीदार लोगो की शक्ल सामने उभरती है? प्रतिष्ठा अवसर की समानता की गरिमा म दीप्त चेहरे देश की दसो दिशाओ मे दिखाई पडते हैं? व्यक्ति की गरिमा और राष्ट्र की अखण्डता की प्रतिभूति चारो तरफ नजर आती है?

यही हम यह बुनियादी सवाल फिर बहुत क लिये उठाना चाहूगे कि सविधान की प्रस्तावना म उद्घोषित 'हम भारत के लोग' वाक्याश का तात्पर्य दरअसल भारत क कितने लोगो से है? और अगर इरादा म भारत के समस्त नागरिको से, तब आर्थिक सम्पन्नता, राजनतिक एकाधिपत्य तथा सामाजिक निद्व द्वता की सारी चमकार आखिर देश के सिर्फ दो प्रतिशत लोगो के चिकने चुपडे चेहरो तक ही सीमित क्या है? बाकी के अठानवे प्रतिशत भारत क लोगो के चेहरो पर आज भी आर्थिक विपन्नता सामाजिक त्रासदी और अन्याय तथा उत्पीडन की मक्खियां ही क्यो भिनभिना रही हैं?

कितने लोगो की गरिमा और आत्माभिव्यक्ति का सवाल उठाना चाहा गया था आखिर भारतीय सविधान मे? और अगर सचमुच भारत के समस्त लोगो की गरिमा आत्माभिव्यक्ति तथा आर्थिक सामाजिक राजनतिक मुक्ति का सकल्प अगीकृत किया गया, तो परिणाम इसके बिलकुल उलटा निकलते चले जाने के बावजूद सविधान को ज्यों का त्यो चलन में रखने की जरूरत क्या है? अगर

कोई दावा करे कि सशोधन किये गए है तो हमारा जवाब होगा कि सिर्फ रूप मे चरित्र मे नही।

इस बात पर ध्यान देना जरूरी होगा कि वाक्य' आदमी के वाक् का प्रतिनिधित्व करता है। भाषा देश,काल और सन्दर्भ से जुडी है। किस स्थान पर, किस प्रसग म और किसके द्वारा कहा गया है कोई वाक्य, इसी स तय होता है उसका वास्तविक और पूरा मतलब। सविधान देश की सबसे बडी कानूनी किताब है। सविधान मे के प्रत्येक वाक्य म हमारी सामजिक नियति का निर्धारण बोलता है। सविधान की प्रस्तावना म यदि घोषित है हम भारत के लोग, तो आगे के पृष्ठ खोलने स पहले जरूरी होगा हम भारत के लोग' वाक्याश का सही सही मतलब समभना। हम सचमुच जानना चाहते हैं कि हम भारत के लोग' का असली मतलब क्या है और कि हमे भी इसमे शामिल माना गया है या नही ?

यह एक बुनियादी सवाल है और इस सवाल को हम भारत के उन तमाम नागरिको की ओर से उठाना चाह रहे हैं जिनके लिये आर्थिक सामाजिक-राजनैतिक न्याय की आशाए सपने की सामग्रिया बन चुकी हैं। जिनके चेहरो पर, आत्माभिव्यक्ति की दीप्ति की जगह असुरक्षा और आत्महीनता की राख पुती हुई दूर स ही साफ साफ दिखाइ पड जाती है। जिनको कानून और न्याय खजूर का पेड हो गये हैं और जिन्हे कदम कदम पर खुद की गरिमा और अस्मिता का सौदा करना पडता है। हम इन्ही म शामिल हैं ऐसे लोगो की सख्या अस्सी प्रतिशत से कम पडती हो,तो हमारा सवाल निरर्थक है किंतु कदाचित ज्यादा तो सवाल का जवाब जरूरी है।

सविधान की प्रस्तावना मे 'हम भारत के लोग' यो ही कहने को नही एक पुख्ता इरादे मे कहा गया और चूकि यह हम भारत के लोग' ही सविधान का केंद्रीय तथा कारक तत्व है,इसलिये सिर्फ इस एक

वाक्यांश के मर्म को जानते ही हम इतना दावा जरूर कर सकते हैं कि हम जानना चाहते हैं। हमें जानना आता है।

जिसके पल्ले पहला ही पन्ना नहीं पड़े उसका किताब का आखिर पन्ने तक पढ़ना किताब का सिर्फ चाटना है। आदमी जब किताब को समझने बूझने और हित में बरतने की जगह चाटने की सामग्री बना ले तो उसे किताबी कीड़ा कहा जाता है। जो 'हम भारत के लोग' वाक्यांश का मतलब नहीं जानते, या कि जान बूझकर इस सवाल में जाना नहीं चाहते, ऐसे संविधानमार्तण्ड विद्वान किताबी कीड़े हैं।

सड़क से लेकर संसद और मज्जी से लेकर संविधान, किसी भी वस्तु का महत्त्व आदमी के आगे तभी बनता है, जब वह जानना चाहे, जानने का उद्यम करे और जो वस्तु ज्यादा महत्त्वपूर्ण हो उसको उतने ही अधिक ध्यान से देखे। 'हम भारत के लोग' का महत्त्व हम कितना आंकते हैं ? जिस क्षण हमारे ध्यान में यह बात आये कि 'हम भारत के लोग' कहकर आखिर हम कहना क्या चाहते हैं, सिर्फ उसी क्षण 'भारतीय संविधान' के इस 'आप्त वाक्य' पर भी ठीक ठीक नजर पड़ेगी और तब ही हम वास्तव में जानना चाहेंगे कि संविधान में घोषित 'हम भारत के लोग' का सही सही मतलब और उसके पीछे का वास्तविक इरादा क्या है। यहां यह शंका नहीं उठाई जाय कि अभी कुछ देर पहले जिसे वाक्यांश,' अब उसे ही 'वाक्य' क्यों कहा जा रहा है। हम कहेंगे 'वाक्' की चरितार्थता उसके अर्थ में है, विराम चिह्नों में नहीं। जहां अर्थ का अनर्थ हो, वहां सारे विरामचिह्नों और व्याकरणसम्मतता के बावजूद भाषा गलत होगी और भाषा तभी गलत होती है जब इरादा गलत हो।

भारतीय संविधान'की भाषा गलत है, तो इसलिये कि इसके पीछे का इरादा गलत है। राष्ट्रपति, प्रधानमंत्री से लेकर, सर्वोच्च न्यायालय के संविधानमार्तण्डों तक, आप किसी से भी जरा पूछ देखें

कि सविधान की प्रस्तावना मे के आप्त वाक्य 'हम भारत के लोग' का सही मतलब और इसके पीछे का वास्तविक इरादा क्या है ? इनमे मे कोई भी इस सबसे बड़े राष्ट्रीय (कानूनी) महत्त्व के सवाल का जवाब न तो देना चाहेंगे और न यह इनके बूते की बात होगा, क्योंकि सवाल का जवाब भी सिफ वही दे सकत हैं, जो सवालो म जाते हो। हमारे तथाकथित भाग्यविधाता जन-मन-गण अधिनायक यदि इस सवाल मे गये होते कि आखिर सविधान मे आप्त वचन 'हम भारत के लोग' की परिधि कहाँ तक जानी चाहिये तो सविधान का सारा ढाचा ही बदल गया होता। तब सारे विधि विधान भारत क शत प्रतिशत लोगो की सामाजिक आर्थिक राजनतिक मुक्ति, आत्माभिव्यक्ति और गरिमा की चिंता का केन्द्र मे रखकर तय हुए होते। तब राष्ट्र की अखण्डता को भारत के जन सामाय की अस्मिता स जोडकर देखा गया होता।

अब अगर कोई यह जवाब दे कि इरादा यही था, तो हम कहेंगे, तुम झूठ बोल रहे हो क्योंकि जिनका इरादा गलत नहीं होता, वो हमेशा परिणाम पर नजर रखते हैं। परिणाम अगर इरादे के उलटा निकले, तो वस्तु और प्रक्रिया, दोनो को जाँचते और बदलते हैं भारतीय सविधान' को जाँचने या बदलन की कोई पहल हमारे भारत भाग्यविधाताओ मे कहीं दूर दूर तक नहीं दिखाई पडन का कारण है और वह यह कि चूकि सविधान के चार दशको के क्रियात्मक प्रतिफलन के नतीजे सिफ अठानबे प्रतिशत उन भारतवासियो के विपरीत निकले हैं जो सविधान की प्रस्तावना म के 'हम भारत क लोग' की परिधि मे नही आते। जो भारत के लोग' ठीक उसी अथ मे नही जिस अथ म कि सविधाननिमाता विद्वानो के वाछित डेढ दो प्रतिशत 'भारत के लोग' हैं।

विधि की कसौटी सच है और सच की कसौटी हित। मौजूदा संविधान से हम अठानब्बे प्रतिशत भारत के लोगों का हित नहीं हुआ है। संविधान की प्रस्तावना में का आप्त वाक्य 'हम भारत के लोग' झूठ है, क्योंकि उसमें न भारत के सारे लोग शामिल थे, न हैं और न सबके हित के सवाल। अन्यथा संविधान की प्रस्तावना में ही यह भी जरूर कह दिया गया होता कि इस प्रस्तावना में के संकल्प के विपरीत आचरण करने वाले व्यक्तियों को राष्ट्रद्रोही करार दिया जायगा। तब राष्ट्रीय संकटों की मार सिर्फ हम अठानब्बे प्रतिशत दीन-हीनों पर ही नहीं होती। तब देश के भयावह रूप से आर्थिक तथा अन्य संकटों से ग्रस्त होने के दौर में कार्बेट पार्क, सरिस्का, मोतीमहल, अण्डमान और लक्षद्वीपों के मत्तविलास हमारा मखौल नहीं उड़ा रहे होते! तब राष्ट्र के आर्थिक रूप से संकटग्रस्त होने के दौर में और अधिक धनाढ्य होते जाने वाले लोगों की जगह, पचतारकी विलासगृहों नहीं, लोहे के फाटक वाले कारागारों में होती!

राष्ट्र की सांसत सिर्फ वही नहीं, जो कि राष्ट्रद्रोह का कार्य करते हों, बल्कि यह प्रत्येक व्यक्ति राष्ट्र की बाधा है, जिसमें आत्माभिव्यक्ति की चेतना और गरिमा नदारद हो। राष्ट्र अपने वासियों का भौगोलिक-सांस्कृतिक बिम्ब हुआ करता है। जो दशा निवासियों, वही राष्ट्र की होती है। जो दीनता और जड़ता में घिरे रहे, वही राष्ट्र को भी दीन और जड़ बनाते हैं। संविधान में के आप्त वाक्य हम भारत के लोग का सही मतलब और इसके पीछे का वास्तविक इरादा क्या है इस सवाल के प्रति अंधे गूंगे और बहरे रहकर हम सिर्फ अपनी नहीं, राष्ट्र की भी गम्भीर क्षति कर रहे हैं।

आश्चर्य कि हमारा ध्यान इस ओर कभी गया ही नहीं कि संविधान की प्रस्तावना में का 'हम भारत के लोग' वाक्य हम भारतवासियों को दो अलग-अलग हिस्सों में बांट दिये गये होने का सूचक है। एक हिस्सा

वह है, जो अपनी भाषा-भूषा और चमक दमक, सभी में हमसे पूरी तरह अलग है। संविधान ने उनके प्रभुत्व की चमकार को सतत कायम रखा है। दूसरा हिस्सा हम हैं — हम भारत के लोग, जिनके चेहरों पर हवाइयां उड़ रही हैं। जिनके लिए संविधान प्रभुसत्ता वर्ग के महाश्वेत ऐरावत के सिवा और कुछ सिद्ध नहीं हुआ है।

सफेद होना ही सच्चा होना भी नहीं। रंग रूप अन्तवस्तु से जुड़े हैं और अन्तववस्तु गहरी जांच पड़ताल की मांग करती है। बगुले और कोयल का अन्तर दोनों के रंग रूप ही नहीं, भाषा में भी बोलता है। बगुले को आदमी ने देखा, कोयल को सुना और इन दोनों के बीच के अंतर को अनुभव किया, तब ही तय हुआ कि पहचान सही है। ऐसे में अगर हम संविधान को देखना, सुनना और अनुभव करना चाहें तो इसमें आपत्ति की गुंजाइश क्योंकर होगी ? और अगर हम यहां फिर यह सवाल उठाना चाहें कि संविधान की प्रस्तावना ही झूठ से प्रारम्भ क्यों है, तो इसे भी बहस की चीज ही माना जाना चाहिये, क्योंकि सच और झूठ बहस की वस्तु हैं और बहस का निषेध सिर्फ वो करते हैं, जो झूठ को सच के रूप में बेच खाने का धंधा चलाना चाहें।

हमारे लेखे संविधान में का 'हम भारत के लोग' वाक्यांश शुद्ध सफेद झूठ है, क्योंकि इसके द्वारा चन्द प्रभुसत्तावर्गीय लोगों ने समग्र भारतवासियों का सप्रभुत्व तथा अधिनायकत्व हथिया लिया। इस तथ्य को प्रस्तावना में स्पष्ट रखा जाना चाहिये था कि 'भारत के मौजूदा जनप्रतिनिधियों के बहुमत के द्वारा एतदय संविधान को अंगीकृत, अधिनियमित तथा आत्मार्पित किया जाता है।'

'हम भारत के लोग' वाक्यांश से यह दावा जाहिर होता है कि भारत के सारे लोग—या इन लोगों के हित के सवाल—इस संविधान में शामिल हैं।

जो शामिल नहीं, उन्हें भी शामिल बताना, धुंध रचना है, और धुंध रचना ही झूठ को सच साबित करने का धंधा चलाना है। हकीकत

है यह कि मौजूदा संविधान का सारा ढाँचा तो राज्य को केन्द्र में रखकर तैयार किया गया, लेकिन इसके सैद्धांतिक डैनों की परिधि पूरे राष्ट्र के वृत्त तक फैला दी गई। प्रस्तावना में ही यह सैद्धांतिक खोखल साफ नजागर है क्योंकि इसमें का सारा बड़बोलापन पूरी तरह अमूर्त है। भारत के लोगों की इस प्रस्तावना (बल्कि पूरे संविधान) में कहीं कोई स्पष्ट अवधारणा नहीं की गई है। कहीं यह नहीं बताया गया है कि भारत के लोग कहने का मतलब क्या है। हमारे विद्वान संवधानमार्तण्ड, शायद, इस तथ्य को भूल ही गये कि रहने वालों का सवाल उनकी दशा और दिशा के सवालों से जुड़ा है। अगर 'भारतीय संविधान' को सचमुच भारत के सारे लोगों के हित में आत्मार्पित किया गया होता तो न ही यह अंग्रेजों की जूठन में निर्मित होता और न इसमें भारत की डेढ़ प्रतिशत प्रभसत्तावर्गीय जमात के शेरवुड स्टीफन-दून पब्लिक स्कूलों की शाही व्यवस्था के चोर दरवाजे खुले रहते और न अठानवे प्रतिशत को सड़ियल शिक्षा प्रणाली या अशिक्षा के हवाले किया जाता। भारत के लोगों को डेढ़ और साढ़े अठानबे प्रतिशत के अनुपात में अलग अलग बाँटने के सारे चोर दरवाजे संविधान में अतर्मूत करते इस 'हम भारत के लोग' आप्त वाक्य की हकीकत क्या मानी जाय ?

अब हम आना चाहेंगे आर्थिक–सामाजिक–राजनैतिक न्याय और आत्माभिव्यक्ति के सवाल पर। संविधान भी आत्माभिव्यक्ति ही है। किन्तु भारत के कितने प्रतिशत लोगों की आत्माभिव्यक्ति का दावा करना चाहेंगे हम इस संविधान में ? अपने ब्रिटिश आकाओं की अंग्रेजी को भारत के कितने लोगों की आत्माभिव्यक्ति की भाषा करार देना चाहते थे, हमारे संविधान-निर्माता प्रभु ? जब कि आत्माभिव्यक्ति का सवाल आदमी से दीगर सवाल नहीं और आदमी की आत्मा व जीभ हो नहीं, आत्मा तक नालबद्ध है—भाषा से ! संविधान की पहली शर्त

है कि उसे राष्ट्र की भाषा मे होना चाहिये। विदेशी भाषा मे किसी साम्राज्यवादी उपनिवेश का सविधान ही तैयार हो सकता है। आत्माभिव्यक्ति का सवाल आदमी की जिंदगी के हाल से बंधा है।

जिस भाषा को देश के अठानब्बे प्रतिशत लोग नही जानते हो, उस देश के सर्वोच्च न्यायालय की भाषा बनाना लोगो की न्याय पा सकने की वाछा का गला घोटना है। मनुष्य के जीवन का सर्वोच्च तत्व है— न्याय! न्याय की भाषा का विदेशी होना देश के लोगो पर यह आतक जमाता है कि जिन्हे न्याय पाने का बहुत शौक हो, उनको विदेशी भाषा जानना जरूरी होगा। और जाहिर है कि विदेशी भाषा मे दक्षता उन्ही की सर्वोपरि होगी, जो दून शेरवुड स्टीफन मार्का ब्रिटिश अमेरिकी शिक्षा प्रतिष्ठानो की अय्याशियो मे समर्थ हो। जो सविधान को, राष्ट्र के बहाने, स्वय को आत्मार्पित करने की कला जानते हो। जिन्होंने इस सत्य को भाड मे झोक दिया हो कि जिनकी भाषा औपनिवेशिक हो, उनका चरित्र भी औपनिवेशिक ही होगा।

अगर कहें कि सविधान मे सच और झूठ की पहचान अन्तर्धान है, तो यह फिर बहस का ही सवाल है। आर्थिक-सामाजिक राजनैतिक न्याय का दावा सिर्फ उसी व्यवस्था मे किया जा सकता है, जहा पूजी पर एकाधिकार की कोई गुजाइश नही हो। पूजी पर एकाधिकार का मतलब किसी व्यक्ति का अधिकार नही होता। घराने या वर्ग के अधिकार भी पूजीगत एकाधिकार की श्रेणी मे ही आते है और पूजीगत एकाधिपत्य ही अन्तत राजनैतिक एकाधिपत्य का ढाँचा खडा करता है। भारतीय सविधान' मे पूजीगत एकाधिपत्य को तोडने की तो बात ही छोडिये, उसे और अधिक सक्रामक बनाने के रास्ते खोड किये गये हैं।

हमारी मौजूदा राज्य व्यवस्था पूजी और राजनीति के गठजोड की उपज है। सविधान इस राष्ट्रघाती गँठजोड पर कोई सवाल नहीं

उठाता। हमारे संविधाननिर्माता इस सवाल में कतई गये ही नहीं कि सदियों की विदेशी दासता के शिकंजे से बाहर निकले देश में अगर राज्यव्यवस्था आर्थिक तौर पर पूंजीवादी बाजार तथा राजनैतिक तौर पर खानदानी शफाखाने की शक्ल में कायम होगी, तो सामाजिक न्याय के आकाश कुसुम आखिर कहाँ से टपका करेंगे मुल्क में ?

जब देश पूंजी और राजनीति के सौदागरों के हवाले हो, तब संविधान की प्रस्तावना में आर्थिक सामाजिक-राजनैतिक न्याय की पुंगी बजाने से क्या होगा ? जहाँ पूंजी आदमी की थोक खरीद का साधन और निजाम शोषण पर टिका हो, वहाँ के शोषित उत्पीडित जन मन गण की आत्माभिव्यक्ति कौन सी रंगत बिखेरेगी ? जहाँ एक ओर भोजन, वस्त्र, दवा तथा शिक्षा के अभाव में विकलांगों की कतारें हों, दूसरी ओर शाही खर्चालियों और कोमलांगियों के मध्य पचतारा महलों, अभयारण्यों तथा नाना द्वीपपुंजों में केलि विहार करते नैतिक सामाजिक चेतना से शून्य चिलमनगों के हुजूम, वहाँ अवसर की समानता का रूहअफजा किन बोतलों में मिला करेगा ?

आश्चर्य कि हमारे संविधाननिर्माताओं को ब्रिटिश साम्राज्यवाद की जूठन के संविधान रचने के जोश में इतना भी होश नहीं रहा कि *अंग्रेजी को जैसे वह ब्रिटिश हुकूमत के दौर में राजभाषा थी, वैसे ही* स्वाधीन भारत में भी राजभाषा बनाये रखने से हमारा सारा स्वाधीनता संग्राम ही मिट्टी में मिल जायेगा। उन्हें यह भी चेत कतई नहीं रहा कि देश की राजभाषा अंग्रेजी होने से संविधान का यह मूल मकसद ही ध्वस्त हो गया कि हम एक सम्प्रभुतासम्पन्न राष्ट्र हैं।

सम्प्रभुतासम्पन्न का एक ही अर्थ हो सकता है—स्वयं के नीति *निर्धारण व कार्यकलापों तथा अपने समस्त अंगों में स्वाधीन होना।* क्या भाषा देश का अंग नहीं ? भाषा का देश या देश का भाषा से क्या सचमुच कोई सम्बन्ध ही नहीं होता ? अगर होता है, तो जब तक कोई देश भाषा में विदेशों का मोहताज हो, उसे स्वाधीन कहना

सिवा शर्मनाक सफेद झूठ बोलने के और क्या होगा ? जब भाषा मे सम्प्रभुता नदारद हो, तब भूगोल या आत्मा मे सम्प्रभुता सिवा एक शर्मनाक धोखे के और क्या होगी ?

जबकि भाषा से ही अस्तित्व तय होता है। भूमि का चप्पा चप्पा भाषा से निबद्ध है। भूगोल-खगोल, सब भाषा से ही तय होते हैं। बोलियो से अचल, प्रादेशिक भाषाओ से प्रदेशो और राष्ट्र भाषा से राष्ट्र के भूगोल खगोल तय होते हैं। राष्ट्रभाषा के बिना राष्ट्र का अस्तित्व असम्भव है। इस प्रकार हम इतना बिलकुल कहना चाहेंगे कि सविधान मे का राष्ट्र की अखडता और एकता का उद्घोष सिवा धोखे और झूठ के कुछ नहीं, क्योकि विदेशी भाषा मे राष्ट्र की सकल्पना असम्भव है। और कि सिर्फ मूर्ख ही इस सचाई से बेखबर होते हैं कि—जो भाषा मे गुलाम हो, वो अपने सर्वस्व मे गुलाम होते हैं।

अग्रेजो के राजभाषा होने से देश की वास्तविक शक्ल आज भी ब्रिटिश-अमेरिकी उपनिवेश से भिन्न कुछ नही। विदेशी भाषा मे शासन सिर्फ उपनिवेशो मे ही चलाया जा सकता है। लेकिन हम जो अठानब्बे प्रतिशत जड मूर्ख हैं,स्वाधीनता की चेतना से पूरी तरह शून्य, हमें आज भी इसी छलावे मे मस्त रखा जा रहा है कि बडी चीज भाषा नही देश है। जैसे कि भाषा नितात भिन्न वस्तु हो और देश का उससे कोई सम्बन्ध ही नही हो, जबकि जैसा कि पहले भी कहा, भाषा और देश अभिन्न हैं।

आत्मी बडबोलापन तो बघारता जाय, लेकिन उसके वस्तुगत सवालो की तरफ झाँके भी नही, तो इसे सिवा झूठ और पाखण्ड के क्या कहेंगे ? 'भारतीय सविधान' मे [आर्थिक सामाजिक राजनैतिक न्याय, अवसर की समानता तथा आत्माभिव्यक्ति एवम् व्यक्ति की गरिमा का सकल्प तो बडे जोर शोर से किया गया है, लेकिन इसे यथार्थ करने की चिंता गायब है। सविधान मे कहीं किसी ऐसी राज्य

व्यवस्था की कोई अवधारणा नहीं की गई है, जो इन कागज के फूलों को जमीन पर खिला सके। अगर संविधान सिर्फ कागज की लेखी के स्तर पर भी खरा होता तो हम इतना बिल्कुल मान लेते कि यह जो गुट की दुर्दशा हम देख रहे हैं, इसके पीछे संविधान का क्रियान्वयन नहीं हो पाना है। लेकिन जैसा कि पहले ही कहा, वस्तु का प्रक्रियात्मक प्रतिफलन आदमी के हाथ है। जिस वस्तु की निर्मिति के पीछे जैसा चरित्र के लोग हों वैसा ही उस वस्तु का स्वरूप भी बनाते हैं 'भारतीय संविधान' की निर्मिति के पीछे जिन लोगों का दिमाग लगा है उन्होंने जो कुछ लिखा हाथों में दस्ताने पहनाकर लिखा। उन्होंने प्रभुसत्ता वर्ग के प्राधिकारों को तो प्रश्नातीत बनाया लेकिन देश के कोटि-कोटि सामान्य जनों के हाथों में मूल नागरिक अधिकारों का जो झुनझुना पकड़ा दिया वह उतना ही बजता है, जितना प्रभुकृपा के दायरे में आता हो

हकीकत है यह कि हम अस्तित्व के मामले में तक उन भारत भाग्य विधाताओं की दया कृपा के मोहताज ही हैं जो जब जरूरी समझें नाना प्रकार के काले कानून लागू करने की सर्वप्रभुत्व सम्पन्नता में लैस हैं। उनके इशारे पर इस देश का सर्वोच्च न्यायमूर्ति तक सर्वथा निर्लज्ज भाव से यह कह सकता है कि—चूंकि जीवन राज्य के द्वारा ही दिया जाता है, इसलिए इसे वापस लेने का भी राज्य का पूरा अधिकार है।

ऑनरेबुल मोलॉर्ड भूतपूर्व चीफ जस्टिस ऑफ इंडिया मिस्टर ए० एन० रे जी के द्वारा १९७५ में आपातकाल के रूप में संविधान के नाभिकुण्ड में से उत्पन्न जिस खूंखार भूत का पक्षसमर्थन किया गया वह आज भी ज्यों का-त्यों संविधान में ही अंतर्भूत है और जब भी हमारे सर्वप्रभुत्वसम्पन्न भाग्यविधाताओं की सत्ता संकट में होगी, इसे १९७५ से भी ज्यादा बर्बरता के साथ हम पर फिर से छोड़ा जायेगा जरूर।

जो सविधान डंके की चोट पर बताता हो कि जीवन प्रकृति, परमात्मा या समाज की निधि नही बल्कि सरकारी जागीर है, उसे विचार अभिव्यक्ति की स्वाधीनता तथा अस्तित्व की प्रतिभूति (गारण्टी) के स्वर्णिम, दिव्य अपूर्व मौलिक अधिकारो से अलकृत दिखाना सिर्फ वही सम्भव हो सकता है जहा के लोग सिर्फ आर्थिक ही नही बल्कि बौद्धिक वैचारिक स्तर पर भी बेशर्मी की हद तक दीन-हीन और मगखड़े हो। हम ऐसे ही मगखड़े है। हम मनुष्य जाति का मखौल हैं। हमे इतना भी चेत नही कि किसी भी देश की स्वाधीनता अस्मिता और गरिमा की चेतना मे शून्य लोगो से बड़ा कोई अभिशाप नही। यह देश भी अभिशप्त है क्योंकि हम चलते फिरते अभिशाप हैं। तथाकथित स्वाधीनता के चार दशकों के बाद भी जो हमारी स्वाधीनता अस्मिता और गरिमा पर जड़ता और दीनता की मक्खियाँ ही भिनभिना रही है, इससे यह सिद्ध हो जाता है कि हम ऐसे ही किसी सविधान के योग्य हैं, जिसमे हमारा जीवन तक सवप्रभुत्व-सम्पन्नों के ठोकर की वस्तु हो।

१६७८ मे साफ बता दिया गया कि सविधान मे 'हम भारत के लोग' से आशय उन सवप्रभुत्वसम्पन्न भाग्यविधाता प्रभुओ मात्र से है जो सविधान को शैतान की बाइबिल के तौर पर इस्तेमाल करने को स्वच्छन्द हैं। जिन्होंने सविधान मे नाना प्रकार के विवेकाधिकारो की प्रविधि के द्वारा कानून को अपनी मुट्ठियों की वस्तु बना रखा है। जो इस पूरे इतमीनान मे हैं कि हम सदियो के गुलामो को कभी यह सवाल व्यापेगा ही नहीं कि कानून की सबसे बडी किताब सविधान में आखिर विवकाधिकारो को कानूनों से बड़ा दर्जा क्यो दिया गया है।

जबकि इतना तो किसी आंखों के अधे को भी समझना जरूर चाहिए कि विवेकाधिकार (यानी विवेक पर कब्जे) का दावा सिर्फ गुण्डो के द्वारा ही किया जा सकता है। लेकिन हम अक्ल के अधो

को कहा चेत है कि संविधान में कानूनी अधिकारों से ऊपर विवेकाधिकारों की व्यवस्था दरअसल गुण्डा कानूनों की द्रविशिति के सिवा कुछ नहीं। और कि इससे संविधान में की कानून के राज्य की अवधारणा झूठी पड़ गई है। जहां कानून से बड़ी सत्ता विवेक (वास्तव में स्वच्छाचार) की हो वहां कानून नहीं, विवेक का राज्य ही कायम होगा। और विवेक के राज्य का सर्वोत्तम उदाहरण भारतेन्दु का 'अंधेर नगरी चौपट राजा' है, जहाँ कि अपराधी को दण्ड की जगह फांसी के फंदे के घेरे का नाप की गर्दन खोजी जाती है।

भारतीय संविधान में कानून दिखाने के दांत हैं। राज्य के असली खाने के दांत हैं—विवेकाधिकार। १९७५ में देश भर के लोगों के अस्तित्व को इसी विवेकाधिकार से हवा में टांग दिया गया था।

अगर हम झूठ कह रहे हों, तो सच क्या है, यह बताने की नैतिक तथा विधिक जिम्मेदारी उन पर है, जिन्हें संविधान का भाष्य सौंपा गया है। और कि जो पूरे राष्ट्र की गरिमा और स्वाधीनता को विदेशी भाषा के हवाले किये बैठे हैं। और कि जिन्हें इस बात से कोई सरोकार नहीं कि भाषा का देश से नाता क्या है। जो देश को उसकी भाषा से वंचित किये रहने में ही स्वयं की सिद्धि देखते रहे हैं। जो इस सत्य से पूरी तरह बेखबर हैं कि झूठ को सच बनाना असम्भव है।

जैसा कि पहले ही कहा, अभी यह पहले ही पन्ने पर है इबारत को समझने की कोशिश है। यह किताब बहुत बड़ी है और इतनी ही जरूरी भी। इसे यानी संविधान को, देश के अधिसंख्य लोगों की चेतना से जोड़कर ही इसकी आत्मा को जगाया जा सकता है। हमारे सामाजिक जीवन की इस सबसे बड़ी पोथी के प्रति हमारा 'काला अक्षर भैंस बराबर' के मुहावरे के हवाले ही रहना ठीक नहीं। जितना ही इसे हम जानेंगे, उतना ही हमारे काम की किताब सिद्ध होगा।

हमे इतना ध्यान रहना जरूरी होगा कि इस किताब से हम नियति के स्तर पर बंधे हैं। यह सचमुच बहुत बडी किताब है। इसके पृष्ठो मे हमारे सामाजिक काय कलापो को प्रभावित करने की अपार क्षमता अतर्निहित है। इसका पाठ धमग्रथो के पाठ से ज्यादा जरूरी है, क्योकि इसकी प्रतिच्छाया हमारे प्रत्येक कम तक जाती और उसे प्रभावित करती है। सविधान की गरिमा मे ही नागरिक जीवन की गरिमा निहित है, इसलिये सविधान के हित मे सतत सघष जरूरी है, क्योकि जो किताब बडी हो उसके तकाजे भी बडे होंगे जरूर।

● ●

कठफोडवा कहाँ रहता है ?

नई दिल्ली, १६ अगस्त ८८। राष्ट्रपति रामस्वामी वेंकटरामन ने सकीर्ण और स्वार्थी तत्वों को 'कठफोडवा' की सज्ञा दी है। श्री वेंकटरामन ने स्वतन्त्रता दिवस की पूर्वसंध्या पर राष्ट्र के नाम अपने संदेश मे कहा—'आज भारतीय लोकतंत्र के वृक्ष की जडें मजबूत हैं और उसका क्षेत्र विशाल है, लेकिन सभी वृक्षों की भाँति इस वृक्ष पर भी कठफोडवा की दृष्टि पडी है।' उन्होंने यह बात उन सकीर्ण और स्वार्थी तत्वों के बारे में कही, जो चुनाव प्रक्रिया पर कुठाराघात करना चाहते हैं। श्री वेंकटरामन ने कहा— देश के संसदीय लोकतंत्र को नुकसान पहुँचाने वाले इन तत्वों की जितनी भी कठोर शब्दों में निन्दा की जाय कम है।' —दैनिक जागरण १७ अगस्त १९८८

जो बोले, वह जानना भी जरूर चाहेगा कि उसके विचारों पर सुनने वालों का कहना क्या है। प्रतिक्रिया, सुनने वाले का नैसर्गिक अधिकार है। इसके बिना बात अधूरी है। वाक्' मिथक से बड़ी वस्तु है। इसके एक पहलू से बोलना और दूसरे से सुनना जुड़ा है। जो सुने, वह ही बता भी सकता है कि बात कैसी रही !

हमने अपने महामहिम राष्ट्रपति महोदय का अभिभाषण बहुत ध्यान से सुना। सुनकर हमारी राय बनी यह कि भाषा बहुत कठिन वस्तु है और कि विदेशी बोली' के कुछ स्वाभाविक खतरे हैं। शब्द का विवेक' नष्ट हो जाना इनमें से एक है। अगर अब हम कहें कि राष्ट्रपति जी के स्वाधीनता की पूर्व संध्या के अभिभाषण में शब्द (या भाषा) का विवेक नदारद है, तो इसे तुरत महामहिम राष्ट्रपति महोदय की अवमानना की धृष्टता करार न दिया जाय क्योंकि न सचाई आक्षेप हुआ करती है और न जिज्ञासा अवज्ञा। इतना हमें भी पता है कि झूठ या गलत लिखना खुद की फजीहत करना है। हम यहाँ जो कुछ लिख रहे हैं, इस अनुभव और विश्वास में ही कि जो जितना महान उसकी जवाबदेही भी उतनी ही बड़ी है। नागरिक के नाते पूछना हमारा हक है और बताना राष्ट्रपतिजी का फर्ज। ज्ञान को बाधा शैतान से होती है, महान से नहीं। जो जितना महान्, वह उतना ही सवालों में घिरा है, क्योंकि हमारे अज्ञान को छाँटने की जिम्मेदारी उस पर ही सबसे ज्यादा है।

जो स्वयं के कहे का अर्थ बताने से इंकार करे या मानकर चले कि उसका कहा लोगों के सवाल से ऊपर होगा, उसका ज्ञान सरासर धोखा है। वह न्यायों में बाइबिल लिये बैठा शैतान है, क्योंकि मनुष्य की तो गरिमा ही इसमें है कि वह जितने ऊँचे स्थान पर से बोले, उतनी ही उसे शब्द की चेतना भी हो। महान् वह है जिसमें गहरी संवेदना और श्रुति हो। जो सदैव, इतना ध्यान रखकर ही बोलता हो कि लोग सुनेंगे, तो जानना भी जरूर चाहेंगे।

ऊपर की छोटी सी भूमिका के बाद, हम कहना चाहेंगे कि जिस-शब्द का मतलब न आता हो, उसे दूसरों से बोलना ठीक नहीं। न ऐसे किसी शब्द को धारण करना ही बुद्धिमानी है जिसका कि मतलब बताने में पसीना छूटने का खतरा मौजूद हो। दूसरों के द्वारा

दिये गये 'शब्द' का तब तक कोई महत्त्व नही, जब तक कि वह हमारे कम या चरित्र से मेल नहीं खाये। विद्वान को मूख कहिये, तो वह कभी नही बिहुँकेगा, क्योंकि शब्द का कम या चरित्र से मेल बना नही। मूख को मूख कहिये, तो धरती खूँदने लगेगा, क्योंकि शब्द चरित्र से समरस है।

हर शब्द की एक हद है। अनहद भी शब्द की हद से बाहर नही। हद से बाहर या ऊपर होना ही शब्द का विवेक खोना है। इसमे कोई सदेह नही कि व्यवहार मे रहने पर शब्द रूढ हो जाता है, लेकिन विचारवान व्यक्ति की शोभा इसी मे है कि शब्द के अथ से उदासीन न रहे।

गाधीजी को जब लोगो ने 'राष्ट्रपिता' सबोधन दिया, तो उसकी भी एक हद थी और उसका दूसरा छोर था—बापू ! शताब्दियों की दासता म जकडे लोगो के कानो मे स्वाधीनता की लाठी की ठक ठक-ठक् पडी, तो लोगो को हुआ कि यह पिता की सी आवाज है ! लेकिन राष्ट्रपति' शब्द स कानों म क्या गजता है ? पति' के साथ पुत्र का छोर बँधा है। व्यक्ति मे 'माँ से उत्पत्ति का ज्ञान नदारद, तो पति' होना खतरनाक हो सकता है ! हमारे महामहिम राष्ट्रपतिजी को, शायद, ज्ञान ही नही कि 'राष्ट्र (धरती) माँ है और 'माँ' का पति होना कुत्सित विकृति !

सतुलन और अनुपात, हर वस्तु के अनिवार्य अग हैं। ये नदारद हों, तो वस्तु को विकृत होते देर नहीं। 'राष्ट्रपिता' शब्द का सतुलन और अनुपात सवारने को 'बापू' मौजूद है। भारत के प्रथम प्रधानमत्री पडित जवाहरलाल नेहरू का सतुलन बनाने और उन्हें, उनके औपनिवेशिक चरित्र के बावजूद करोडो लोगों से जोडने मे 'चाचा नेहरू' की भूमिका देखना जरूरी होगा। 'राष्ट्रपति' शब्द का दूसरा छोर क्या है ? और जिस शब्द का दूसरा छोर नदारद हो, वह एक पहलू के

खोट सिक्के से भी बदतर है क्योंकि एक न एक दिन वह अपने धारक को धारोधार ले जरूर डूबता है।

हम इतना बिल्कुल जोर देकर कहना चाहेंगे कि 'राष्ट्रपति' शब्द गलत है। प्रेसीडेन्ट' का पद 'राज्याध्यक्ष' का है। यही उसकी हद है। यहाँ से आगे 'राष्ट्राध्यक्ष' तक तो हद के इनारे किनारे ही, लेकिन 'राष्ट्रपति' होते ही हद से बाहर हो जाना है क्योंकि राष्ट्र कोई जागीर नहीं। दूसरे, राष्ट्रपिता भावना का शब्द है, जबकि राष्ट्रपति कानून (राज्य) का। कानून के 'शब्द' को 'अर्थ' से समतोल होना चाहिये, क्योंकि कानून का निकष तुला है।

जिस देश का क्षेत्र आसेतु हिमाचल विस्तृत हो। जिसकी जड़ा में गंगा यमुना-नर्मदा कावेरी ब्रह्मपुत्र जैसे पचनदो का पवित्र जल महासागरों का रूप लेता हो। जिसमें विंध्य और हिमाचल अरावली जैसी पर्वतश्रेणियों का डेरा लगा हो। जहां वेद, उपनिषद, रामायण और महाभारत जैसे महाकाव्य रचे गये हों, उसका 'पति' होने की भ्रांति से बचना ही श्रेयस्कर होगा।

शब्द व्यक्ति के जीवन भर साथ रहे, तभी खरा और प्रासंगिक है। लोग तो ऐसे भी हुए हैं कि शरीर से नहीं रहने पर भी, शब्द में उपस्थित हैं। 'राष्ट्रपति' शब्द का तो अनेक बार सिर्फ पाँच सात साल भी साथ चलना कठिन हुआ है। क्या हम आशा करें कि हमारे महामहिम राष्ट्रपति रामस्वामी वेंकटरामनजी शब्द पर थोड़ा ध्यान देंगे जरूर?

इतना तो वो कह ही सकते हैं कि यह 'प्रेसीडेन्ट' का गलत अनुवाद है और चूंकि हिंदी से उनका कोई सरोकार ही नहीं, इसलिए शब्दानुवाद के गलत होने की जिम्मेदारी उनकी नहीं। और चूंकि उन्होंने लोकतंत्र की दुहाई दी है, इसलिए ध्यान में रखना जरूरी होगा कि लोकतंत्र भी एक शब्द है और अगर प्रधानमंत्री को 'लोकाधिपति'

कहा जाने लगे, तो लोकतत्र खत्म हो जायेगा । इसलिए लोकतत्र में अधिनायकत्व या स्वामित्वमूलक शब्दो से बचना चाहिए ।

हालाँकि जहाँ तक हमारी औकात का सवाल है देश को यह तक भी बिल्कुल दिया जा सकता है कि जिन्हें देश को गुलामी के शिकंजे म जकडने वाले सम्राट् जाज पचम को भारत भाग्य विधाता मानत शम नही आई । जिन्ह अपन ही नही, बल्कि पजाब, सि ध, गुजरात, महाराष्ट्र द्रविड प्रदेश उत्कल और बगाल बल्कि विध्य हिमाचल यमुना-गगा और दक्षिणी पश्चिमी महासागरा तक के जाज पचम का 'शुभ नाम' लेत हुए ही जागन और उन्ही महाप्रतापी सम्राट का शुभाशीष मागते कोई लज्जा अनुभव नही हुई, वही आज 'राष्ट्रपति' शब्द पर बहस क्यो उठायें ? लेकिन आदमी अगाध है और जसे महासागरो मे ज्वार उठते हैं आदमी म भी लहरें उठती जरूर हैं । बल्कि सचाई तो है यह कि आदमी जितने लम्बे समय तक झेलता है, उतने ही घनघोर शब्द भी उठाता है ।

हम नही तो आने वाले ही सही, लेकिन शब्द की बहस तो लोग उठायेंगे जरूर, क्योंकि लोकतत्र क्या है ? आदमी की चौपाल है । और चौपाल मे आदमी हुक्का ही नही शब्दो को भी गुडगुडाता है । सच पूछिये तो अगर 'शब्द की गुडगुड' निर्बाध नहीं तो साफ है कि लोकतत्र सिफ मुखौटे मे ही मौजूद है । क्योंकि सिफ मुखौटा ही आदमी को मुखौटे की बोली बोलने को लाचार करता है ।

शब्द की सत्ता ही बहस से है । बहस से शब्द धूमिल नही होता, निखरता है । शब्द के अभिज्ञान को बहस जरूरी है । अन्यथा उसका मतलब जानना असम्भव है ।

हमे क्षमा किया जाय, हमारे वतमान महामहिम राष्ट्रपति श्री रामस्वामी वेंकटरमण जी को न कठफोडवा शब्द का मतलब ही पता है और न राष्ट्रपति' का ।

शब्द प्रसग से जुडा है । कठफोडवा से अगर राष्ट्रपति जी का तात्पर्य सरकार की शह पर हजारो हजार वृक्ष एक दिन में कटवा लेने वाले जगलचोर लकडी (काठ) के ठेकेदारो से हो, तो हमे कुछ नही कहना, लेकिन जाहिर है कि उनका (भी) तात्पय कठफोडवा पक्षी से ही है।

हमे लगता है, महामहिम राष्ट्रपति जीने 'कठफोडवा' (पक्षी) को, अपन स्वाधीनता को पूर्वसध्या के अभिभाषण से पहले तक न कहीं आँखों से देखा, न कभी कानों से सुना और न कभी जानने की जरूरत ही अनुभव की कि कठफोडवा आखिर करता क्या और रहता कहाँ है?

शब्द से उसका अथ जुडा है। गाय क्या खाती पीती और क्या देती है, उसके जीवन के स्रोत क्या हैं, इन सारी बातों का कोई ज्ञान न हो, तो तय है कि 'गाय' शब्द का प्रयोग, अनर्थ के सिवा और कुछ नही करेगा । कठफोडवा के खाने पीने, खेलने कूदने, उडने फुदकने और रहने के ठिकानों का ज्ञान जिसे हो, वह भूलकर भी यह आरोप कठफोडवा पर कभी नहीं लगायेगा कि उसकी कुदृष्टि से विशाल क्षेत्र और मजबूत जडों वाले वृक्षों के अस्तित्व को खतरा उत्पन्न हो जाता है। क्योंकि कठफोडवा बेचारे का तो खुद का अस्तित्व ही वृक्ष के सही सलामत बने रहने पर टिका है।

राष्ट्रपति जी को पता नहीं कि यह नन्हा निरीह पक्षी तो वृक्ष की छाल को उतना ही विदीर्ण करता है, जितने से कि उसे भीतर के कीडे मकोडों का आहार जुट जाय। इसीलिए कठफोडवा सिर्फ मोटे वक्कल (वल्कल) वाले वृक्षों पर ही चोंच चलाता है। उसे अगर ध्यान से चोंच चलाते देखिए, तो दूध के लालच में माँ को झिझोडते शिशु की सी चेष्टाएँ करता मालूम पडेगा। और अगर कहीं ऋषियों-कवियों का सा ध्यान लगाकर देखिए, तो जीवन-सघर्ष का सगीत तानता नजर

आएगा। लम्बी तीखी चोच उठाकर, यह इंगित करता आभासित होगा कि उसे अपनी कुट कुट कोयल की 'कुहू कुहू' से कम प्यारी नहीं ! और कि—जीवन का सबसे सुन्दर संगीत स्वय जीवन है।

हम, फिलहाल इतना ही मान लेना चाहेगे कि हमारे महामहिम राष्ट्रपतिजी ने कठफोडवा देखा ही नही है। क्योंकि देखकर भी अनदेखा करना और ज्यादा गलत बात है।

हमने जगल देखे ही नहीं, थोडा जिये भी हैं। हमने कठफोडवा देखा ही नही, उसकी कहानी भी सुनी है। हमे कोई यह कहता नहीं मिला कि कठफोडवा की कुदृष्टि से वृक्षो को खतरा उत्पन्न हो गया है। ऐसे मे इतना हम और कहना चाहेगे कि राष्ट्रविरोधी तत्वो को कठफोडवा की सज्ञा देना मगरमच्छों को 'नन्ही मुन्नी मछलियां' बताना है। काश कि राष्ट्रविरोधी तत्वो का चरित्र कठफोडवा की भाँति ही नैसर्गिक और स्वय के अस्तित्व की रक्षा के श्रम से जुडा होता।

जो नैसर्गिक, वह पाप से परे है। उसे जघन्य अपराधकर्मियो मे शुमार करना अनीति है। कठफोडवा को वृक्षहता बताना, उस पर झूठा आरोप लगाना है। यह नैसर्गिकता की हत्या है। राष्ट्र के सर्वोच्च राजनैतिक आसन पर विराजमान व्यक्ति से तो कठफोडवा भी न्याय ही पाना चाहेगा ! लेकिन "न्याय' भी तो स्वय मे एक शब्द' ही है। और जिस शब्द को चेतना न हो, उससे न्याय असम्भव है।

राष्ट्ररूपी वृक्ष या लोकतन्त्र की प्रक्रिया मे कठफोडवा लग गये होने की जो चेतावनी राष्ट्रपति जी ने दी है, उससे कहीं भी यह स्पष्ट नहीं होता कि राष्ट्र की जडों को सम्भावित खतरो मे कुछ हिस्सेदारी सप्रभुत्वसम्पन्न भारत सरकार की भी है या, नहीं ! उन्होंने यह भी कहीं स्पष्ट नही किया कि चुनाव प्रक्रिया पर कुठाराघात करने

वाले तत्व हैं कौन कौन ? और कि आज जो चुनाव पैसे और गुण्डा शक्ति का खेल बनकर रह गये हैं, इसकी जड़ें कहा हैं। न कही अभिभाषण मे सरकार को यह निर्देश ही दिया गया कि वह चुनाव-प्रक्रिया को राष्ट्रविरोधी तत्वो के चगुल से बचाये कैसे।

कितने भी कठोर शब्दो मे निन्दा करने से उन्हें क्या फर्क पडना है जो कि शब्दो की चेतना से ही ऊपर उठ चुके हो ? जिनके लिए राष्ट्र दूसरो से हिल मिल कर सघर्ष करने और मगल मनाने की जगह नही, बल्कि पिडारियो की तरह लूटने खसोटने का अड्डा मात्र हो ?

अफसोस कि पूरे अभिभाषण मे राष्ट्र के स्पदन कही नही सुनाई दिये। उसमे राष्ट्र की अस्मित, स्वस्ति और सवेदना के नाद की जगह सत्ता के 'बैकग्राउण्ड म्यूजिक' की अनुगूज ज्यादा रही। भाषा, शिक्षा, न्याय, कानून और प्रशासन मे किसी सकारात्मक परिवर्तन का दिशा निर्देश अभिभाषण मे कही नही दिखा। उसमे आर से पार तक स्वाधीनता की पूर्व सध्या पर भाषण देने की औपचारिकता और सर्वोच्च पद के बन्धनो की छाया मात्र डोलती दिखाई पडी।

सकीर्णता भी शब्द है। जब व्यक्ति का जीवन समाज के करोडो लोगों की पहुँच से दूर हो जाय, जब व्यक्ति को सप्तसितारा भव्यताओ के बीच यह ध्यान ही नही रहे कि देश मे लाखों करोडो अन्न वस्त्र और दवा तक को मोहताज हैं—जब कानून और न्याय तक के खरीद फरोख्त की वस्तु हो चुकने की कोई चिंता और वेदना व्यापनी ही बद हो जाय—तब खुद का बासा राजसी ऐश्वर्य की चमकार से झिलमिलाते विशाल प्रासादो मे होने के सतोष में निमग्न पडे रहना मनुष्य के हक मे नही क्योंकि 'सकीर्णता' जितनी जगह की नही, इससे ज्यादा सवेदना, विवेक और चरित्र की खतरनाक होती है। और तब अगर कहीं कोई अचानक पूछ बैठे कि—मान्यवर, कह तो दिया आपने, लेकिन कुछ बतायेंगे भी कि राष्ट्र को खतरनाक

'कठफोड़वा' हकीकत मे कहाँ रहता है ?   तो जवाब देना मुश्किल भी हो सकता है ! क्योंकि तब यह जवाब किसी काम का नहीं होगा कि—हम तो भव्य इंद्र भवनों मे विराजते हैं !

• •

शैलेश मटियानी की अन्य रचनायें

कहानी सग्रह

पाप मुक्ति तथा अन्य कहानियाँ
सुहागिनी तथा अन्य कहानियाँ
अतीत तथा अन्य कहानिया
सफर पर जाने से पहले
हारा हुआ
छिद्दा पहलवान वाली गली
वर्फ की चट्टाने / कोहरा
भेडे और गडेरिये
प्रतिनिधि कहानियाँ
अहिंसा तथा अन्य कहानियाँ
विकल्प कथा साहित्य (सपादित)
माँ की वापसी / बिल्ली के बच्चे

उपन्यास

डेरेवाले / पुनजन्म के बाद
मुठभेड / आकाश कितना अनन्त है
चन्द औरतो का शहर
बावन नदियो का सगम
बोरीवली से बोरीबन्दर तक
अर्ध कुम्भ की जात्रा
माया सरोवर / रामकली

आलोचना/लेख

कागज की नाव
राष्ट्रभाषा का सवाल
लेखक की हैसियत से
यदा कदा / त्रिज्या
मुख्यधारा का सवाल
जनता और साहित्य
लेखक और सवेदना